



॥ परमात्मने नमः ॥

विषापहार प्रवचन

कविवर धनञ्जय रचित विषापहार स्तोत्र पर
आत्मज्ञ सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के भावपूर्ण प्रवचन

हिन्दी अनुवाद, सम्पादन व प्रस्तावना :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़ (उ०प्र०)

प्रकाशन सहयोग :
सपाणी परिवार
सोनगढ़, मुम्बई, हैदराबाद

प्रकाशक :
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी - 204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 2000 प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ
शुक्रवार, 03 फरवरी 2010 (सप्तम वर्षगाँठ महोत्सव)
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

ISBN NO. : 81-903074-6-0

विक्रय मूल्य : पन्द्रह रुपये मात्र

प्राप्तिस्थान / Available At -

- **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
Website : www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com
- **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)
- **SHRI HITEN A. SHETH,**
Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragna@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com
- **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :

मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :

देशना कम्प्यूटर, जयपुर

प्रकाशकीय

कविवर धनञ्जय द्वारा रचित भगवान श्री आदिनाथ जिनेन्द्र का भक्ति काव्य 'विषापहार स्तोत्र' पर हुए आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भक्तिरसपूर्ण प्रवचनों का सङ्कलन 'विषापहार प्रवचन' प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् १९७८ की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया? क्या नहीं छोड़ा? भगवान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार ४५ वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान

महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्पकाल में इस तीर्थधाम ने न मात्र जैन, अपितु जैनेतर समाज के हृदय में भी अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है। सत्य तो यह है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** पूज्य गुरुदेवश्री एवं तद्भक्त बहिनश्री के तत्त्वज्ञान का प्रभापुञ्ज ही है।

सत्साहित्य का प्रकाशन भी **तीर्थधाम मङ्गलायतन** की कई कल्याणकारी योजनाओं में से एक है। इसी के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें 'प्रकाशनकर्ता' के रूप में **सपाणी परिवार, सोनगढ़** का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है - तदर्थ वह परिवार धन्यवाद का पात्र है।

विषापहार स्तोत्र के इन गुजराती प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण एवं सम्पादन कार्य **मङ्गलायतन** के विद्वान् पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राज.) द्वारा सम्पन्न किया गया है, साथ ही इस विषय पर व्यापक स्पष्टीकरण करनेवाली प्रस्तावना भी उन्होंने लिखी है। प्रकाशन से पूर्व मैंने एवं डॉ. राकेश जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य ने भी इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ा है।

सभी साधर्मिजन इस प्रवचन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें — यही भावना है।

दिनाङ्क, ०१ फरवरी २०१०

तीर्थधाम मङ्गलायतन का
सप्तम वार्षिक महा-महोत्सव

पवन जैन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान
दिगम्बर जैन ट्रस्ट

प्रस्तावना

जिनेन्द्रभक्त कविवर श्री धनञ्जय द्वारा रचित 'विषापहार स्तोत्र' पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन, 'विषापहार प्रवचन' ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है। प्रस्तुत काव्य पर गुरुदेवश्री के प्रवचन दिनाङ्क २७ अगस्त से ०३ सितम्बर, सन् १९६२ तक हुए थे, जो कि अभी तक अप्रकाशित थे। 'भक्तामर स्तोत्र' के माङ्गलिक प्रवचनों के समान 'विषापहार स्तोत्र' पर हुए प्रवचन भी अवश्य तत्त्वप्रेमी साधर्मि समाज में समादृत होंगे — ऐसी मङ्गल भावना है।

विषापहार स्तोत्र एक भक्ति काव्य है, जिसमें इस युग के आदि तीर्थङ्कर भगवान श्री आदिनाथ की स्तुति की गयी है।

वस्तुतः जैनदर्शन व्यक्ति-पूजा में नहीं, गुणों की पूजा में विश्वास रखता है। यही कारण है कि जैन साहित्य में उपलब्ध प्रायः सभी स्तुतियों में गुणों के माध्यम से ही अपने आराध्य की स्तुति या भक्ति की गयी है।

जैन आगम में भक्ति का स्वरूप दर्शानेवाले कुछ आगम-उद्धरण इस प्रकार हैं —

अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्तिः।

अर्थात् अरहन्त, आचार्य, उपाध्याय आदि बहुश्रुत सन्तों और जिनवाणी के प्रति भावों की विशुद्धिपूर्वक जो प्रशस्त अनुराग होता है, उसे भक्ति कहते हैं।

(- सर्वाधिसिद्धि, ६/२४)

अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः।

अर्थात् अर्हदादि के गुणों में प्रेम करना भक्ति है।

(- भगवती आराधना, ४७/१५९)

मोक्खंगय पुरिसाणां गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।

जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं॥

अर्थात् जो जीव मोक्षगत पुरुषों के गुणों के भेद जानकर, उनकी भी परमभक्ति करता है, उस जीव को व्यवहारनय से निवृत्ति भक्ति कही है।

(- नियमसार, गाथा १३५)

भक्ति पुनः सम्यक्त्वं भण्यते, व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनारूपा।

अर्थात् व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों के द्वारा पञ्चपरमेष्ठी की आराधनारूप सम्यक् भक्ति होती है।

(- समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, १७३-१७६)

निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्ध-रत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः।

अर्थात् निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-अवबोध-आचरणस्वरूप शुद्ध रत्नत्रयपरिणामों का जो भजन है; वह भक्ति है, आराधना है — ऐसा उसका अर्थ है।

(- नियमसार तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा १३४)

भक्तिः पुनः निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्त्व-भावनारूपा चेति।

अर्थात् निश्चयनय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्ध आत्मतत्त्व की भावनारूप भक्ति होती है।

(- समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, १७३-१७६)

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी धर्मात्माओं को, सविकल्प दशा में वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होनेवाला गुणानुरागरूप प्रशस्तभाव व्यवहार भक्ति है और स्वशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतरागभावरूप शुद्धपरिणति व शुद्धोपयोग निश्चयभक्ति है।

नियमसार के परम भक्ति अधिकार में निवृत्ति भक्ति का स्वरूप निश्चय-व्यवहारनयों से तीन गाथाओं में तथा योग भक्ति का स्वरूप चार गाथाओं में विस्तार से आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव एवं टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने व्यक्त किया है।

आद्यस्तुतिकार आचार्य समन्तभद्र ने तो आप्त को नमस्कार करने से

पूर्व उनमें आवश्यक गुणों की परीक्षा भी की है तथा जिनमें वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता विद्यमान हो, उन्हें ही आप्त के रूप में स्वीकृत किया है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने अपनी सर्वाधिक लोकप्रिय कृति मोक्षमार्गप्रकाशक में पूज्यत्व का कारण दर्शाते हुए लिखा है —

‘रागादि विकारों से व ज्ञान की हीनता से तो जीव निन्दा योग्य होते हैं और रागादिक की हीनता व ज्ञान की विशेषता से जीव स्तुति योग्य होते हैं।’
(*मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४*)

इसी प्रकार का भाव पण्डित दौलतरामजी ने भी व्यक्त किया है —

**तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग समहारिके॥**

(- *छहढाला, मङ्गलाचरण*)

इस प्रकार पूज्यत्व का कारण वीतराग-विज्ञानता ही है।

जैनमतानुसार ईश्वर अथवा आराध्य, वीतराग होने से न तो अपनी स्तुति से प्रसन्न ही होते हैं और न अपनी निन्दा से अप्रसन्न, फलतः वे अपने प्रशंसकों को अथवा निन्दकों को इष्टानिष्ट फल नहीं देते; बल्कि जो जीव उनका सही स्वरूप पहिचानकर, उनकी भक्ति-स्तुति करता है, वह भी उन जैसा बनने की प्रेरणा पाकर, तदनुसार पुरुषार्थ करके उस दशा को उपलब्ध कर लेता है।

वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा का आराधक, वीतरागता का ही उपासक होता है — इस कारण उसके द्वारा की जानेवाली स्तुति अथवा भक्ति में किसी भी प्रकार की लौकिक कामना निहित नहीं होती।

आचार्य उमास्वामी के मतानुसार उपास्य की उपासना का एकमात्र प्रयोजन **वन्दे तद्गुणलब्धये** अर्थात् ‘उन जैसे गुणों की प्राप्ति है’। किसी भी लौकिक प्रयोजन से की जानेवाली भक्ति में भोगों एवं संयोगों की रुचि निहित रहने से पाप का ही बन्ध होता है।

इस सन्दर्भ में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी का निम्न कथन विचारणीय है —

‘अरहन्तादिक के नाम पूजनादिक से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर, रोगादिक मिटाने के अर्थ व धनादिक की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजादिक करता है। सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्वकर्म का उदय है, अरहन्त तो कर्ता हैं नहीं। अरहन्तादिक की भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामों से पूर्वपाप के संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिए उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहन्तादिक की भक्ति कही जाती है; परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है, उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ; काँक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए, उनसे पूर्वपाप के संक्रमणादि कैसे होंगे?’

(- *मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 222*)

अन्य दर्शनों की भाँति जैनदर्शन भक्ति को मुक्ति का कारण भी स्वीकार नहीं करता। भक्ति तो कुस्थान में राग के निषेध के लिए की जाती है।

इस सन्दर्भ में पण्डित टोडरमलजी कहते हैं —

‘कितने ही जीव भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। यह तो अन्यमती जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं, वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ; परन्तु भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है, इसलिए मोक्ष का कारण नहीं हैं। जब राग का उदय आता है, तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो; इसलिए अशुभराग छोड़ने के लिए ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग को बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं; परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते; शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते हैं।’

(- *मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 222*)

इसी प्रकार का भाव पञ्चास्तिकाय में भी व्यक्त किया है —

**इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। तीव्रराग-
ज्वरविनोदार्थमस्थानरागनिषेधार्थं क्वचित् ज्ञानिनोपि भवति।**

अर्थात् यह भक्ति केवल भक्ति ही है प्रधान जिनके, ऐसे अज्ञानी जीव के होती है तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के अर्थ या कुस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ कदाचित् ज्ञानी के भी होती है। (- पञ्चास्तिकाय, गाथा 136)

उक्त सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि जैनदर्शन में भक्ति को न तो मुक्ति का कारण माना गया है और न लौकिक भोगोपभोग सामग्री का प्रदाता। सचमुच में जिनेन्द्रदेव की भक्ति तो विषय-कषायरूप महा अशुभभाव से बचने के साथ-साथ स्वयं उन जैसा बनने के उद्देश्य से किया जानेवाला वह मन्दकषायरूप अनुष्ठान है, जो पुण्यबन्ध का कारण है तथा यदि जीव उस समय उन जैसा बनने के लिए शुद्धोपयोगरूप परिणमन करता है तो इस भक्ति के अनुष्ठान को निश्चय मोक्षमार्ग का साधक होने से परम्परा से मुक्ति का कारण भी कहा जाता है।

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने तो नियमसार की टीका करते हुए कलश १२ में यहाँ तक कहा है — ‘भव के भय के भेदनेवाले इन जिनेन्द्र के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है? तब तो तू भवसमुद्र के मध्य स्थित मगर के मुख में स्थित है।’

इसी प्रकार आचार्य पद्मनन्दि ने अपने लोकप्रिय ग्रन्थ पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिका में जिनेन्द्रभक्ति की महिमा का वर्णन करनेवाले कई प्रकरण लिखकर, अपने हृदय में समाहित जिनभक्ति को शाब्दिक अभिव्यक्ति प्रदान की है।

तार्किक चूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र तो आद्यस्तुतिकार के रूप में जाने ही जाते हैं। उनके द्वारा रचित भक्ति काव्यों में जहाँ भगवान के भरपूर गुणगान किये गये हैं, वहीं भगवान को परीक्षा की कसौटी पर कसने से भी वे नहीं चूके हैं।

इसी तरह सम्पूर्ण जिनागम के रचयिता भावलङ्गी सन्तों ने यत्र-तत्र -सर्वत्र अपने ग्रन्थों में जिनभक्ति के स्वर गुञ्जायमान किये हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित प्रवचनसार परमागम में, मङ्गलाचरण

की पाँच गाथाओं की टीका में, आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव ने ज्ञानी मुनिराजों के हृदय में उत्पन्न भक्तिभाव का कारण, उनकी भूमिका में विद्यमान कषायकण को माना है। साथ ही पञ्चास्तिकाय में तो अरहन्तादि के प्रति जिसका चित्त अनुराग से प्रेरित है, उसका निर्वाण अतिशय दूर है — ऐसा भी प्रतिपादित किया है। मूल गाथा इस प्रकार है -

**सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स ॥**

(- पञ्चास्तिकाय, गाथा 170)

सचमुच ही ज्ञानियों के जीवन की यह द्विरूपता आश्चर्यजनक सत्य है। एक ओर जहाँ वे भक्ति के राग को कषायकण या निर्वाण दूरतर है — इत्यादि कहकर उपेक्षित करते हैं; वहीं दूसरी ओर रागात्मक भूमिका में भगवत् भक्ति से पराङ्मुख जीवों को भवसमुद्र में डूबा हुआ कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि श्रद्धा में राग को अत्यन्त उपेक्षणीय मानते-जानते हुए भी, जब तक सम्पूर्ण राग का अभाव नहीं हो जाता, ज्ञानीजनों को भी जिनेन्द्रभक्ति इत्यादि का शुभभाव आए बिना नहीं रहता।

यद्यपि शुभराग आना चारित्रिक कमजोरीरूप दोष है; परन्तु शुभराग को उपादेय मानना तो विपरीत श्रद्धारूप महा-अपराध है। दोष क्षम्य हो सकता है; अपराध नहीं।

ये सब ऐसे तथ्य हैं, जिन्हें ज्ञानीजनों की एक लम्बी परम्परा ने उद्घाटित किया है। उन्हीं ज्ञानीजनों की परम्परा के पुनीतप्रवाह में, वर्तमान सदी के महापुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने अपने प्रवचन एवं तत्त्वचर्चाओं में इन सभी तथ्यों का आत्महितकारी तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत कर, मुमुक्षु जगत को धन्य कर दिया है।

इस प्रकार भक्ति के सन्दर्भ में कुछ विचारणीय तथ्य यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। विस्तार से जानने की अभिलाषावाले विज्ञपाठकों को जिनागम का गहन अभ्यास करना चाहिए।

निश्चय भक्ति का स्वरूप विचार करने हेतु मैं विज्ञ पाठकों से समयसार गाथा ३१ से ३३ तक के प्रकरण पर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, जहाँ **निश्चयस्तुति** का विचार किया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री को भी उक्त गाथाएँ अत्यन्त प्रिय थीं और इन पर उन्होंने विस्तार से प्रवचन भी किये हैं। पाठक उन्हें भी प्रवचन रत्नाकरों अथवा प्रवचनों की सी.डी./कैसेट के माध्यम से उनका भी अवश्य अध्ययन/श्रवण/मनन करें।

वर्तमान युग में समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों के हार्द को अपने मङ्गल प्रवचनों के माध्यम से सरलतम भाषा में प्रस्तुत करनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने कई भक्तिपरक काव्यों पर भी भावविभोर होकर प्रवचन किये हैं, जो उनके हृदय में विद्यमान जिनेन्द्रभक्ति के अमर स्मारक हैं। इस स्तोत्र के भावों को माध्यम बनाकर पूज्य स्वामीजी ने अध्यात्म की अलौकिक युक्तियाँ इसमें से निकाली हैं। स्वामीजी ने स्तोत्रों पर आधारित प्रवचनों में भक्तामर स्तोत्र, विषापहार स्तोत्र, ऋषभ स्तोत्र, जिनदर्शन स्तोत्र एवं शान्तिनाथ स्तोत्र इत्यादि प्रमुख हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री के निश्चयपरक प्रवचनों के भरपूर प्रकाशन एवं व्यवहारपरक प्रवचनों का उस मात्रा में प्रकाशन न होने से, जनसाधारण में उनके प्रति इस प्रकार की भ्रान्त धारणा बलवान हो गई कि स्वामीजी व्यवहार को उड़ाते हैं। जबकि सत्य तो यह है कि पूज्य गुरुदेव ही वर्तमान शताब्दी में निश्चयसापेक्ष व्यवहार के एकमात्र स्थापितकर्ता हैं। स्वयं उनके श्रावक-धर्म-प्रकाश, मुक्ति का मार्ग, अमृतझरना, भक्तामर रहस्य, जिनप्रतिमा जिनसारखी इत्यादि इसके सबल प्रमाण हैं।

इसी शृङ्खला को आगे बढ़ाते हुए **तीर्थधाम मङ्गलायतन** ने विषापहार स्तोत्र पर हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों को अनुवादित-सम्पादित कर प्रकाशन करने का प्रयास किया है।

धनञ्जय कवि रचित इस स्तोत्र में चालीस काव्य हैं और एक-एक काव्य में जिनेन्द्रदेव की अलग-अलग प्रकार से स्तुति कर वीतरागता की अनुमोदना को व्यक्त किया गया है।

इस स्तोत्र के साथ एक कथा भी जुड़ी हुई है — धनञ्जय कवि जिनेन्द्र पूजन में तल्लीन थे। उनके इकलौते पुत्र को सर्प काट लेता है। बारम्बार बुलाने पर भी जब उनकी तन्मयता खण्डित नहीं होती, तब पुत्र की माता गुस्से में बेहोश पुत्र को लाकर उनके सामने डाल देती है, किन्तु इसका आभास भी उन्हें नहीं होता। जिनभक्ति की तन्मयता में ही इस स्तोत्र की रचना हो जाती है और भाग्योदय से उनके पुत्र का विष उतर जाता है, इस कारण यह स्तोत्र 'विषापहार' के नाम से सुविख्यात हो गया है। यद्यपि कवि ने इस प्रकार की कोई कामना या याचना नहीं की है।

इस स्तोत्र में जिनागम के कई महत्वपूर्ण न्याय भरे पड़े हैं, जिनका विवेचन पूज्य गुरुदेवश्री ने इन प्रवचनों में किया है।

प्रस्तुत प्रकाशन के सन्दर्भ में

इस प्रवचन ग्रन्थ में मूल श्लोक, उसका हिन्दी पद्यानुवाद और डॉ. पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा लिखित अन्वयार्थ एवं भावार्थ भी दिया गया है। ध्यान रहे कि पूज्य गुरुदेवश्री ने इसी टीका के आधार पर प्रवचन किये हैं एवं इसी पद्यानुवाद को अपने प्रवचनों में स्थान दिया है। पद्यानुवादकर्ता का नाम ज्ञात नहीं हो सका है परन्तु पद्यानुवाद के अन्त में 'प्रेमी' शब्द से कुछ सूचना मिलती है, शायद उनका उपनाम 'प्रेमी' होगा। अतः उनके प्रति परोक्षरूप से आभार प्रदर्शन करते हैं एवं अनुवादकर्ता आदरणीय पण्डितजी के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

इन सभी कार्यों के शक्तिप्रदाता परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ही हैं, उनका ही सबकुछ इस ग्रन्थ में है। साथ ही मुझे पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्ति उत्पन्न कराने में निमित्तभूत मेरे विद्यागुरु एवं पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त पूज्य पण्डित श्री कैलाशचन्दजी, अलीगढ़ हैं, जिनके पावन चरणों में रहकर मुझे तत्त्वज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हुआ है। मेरे जीवन शिल्पी इन दोनों महापुरुषों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन एवं सम्पादन कार्य में श्री पवन जैन, अलीगढ़ एवं डॉ. राकेश जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य का भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ है; अतः दोनों धर्मवत्सल अग्रजों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हुए, उनसे भविष्य में भी इसी प्रकार के सहयोग की अपेक्षा रखता हूँ।

इस सङ्कलन में विद्यमान सभी विशेषताएँ पूज्य गुरुदेवश्री की हैं और जो कुछ कमियाँ रहीं, उनका जिम्मेदार मैं अल्पज्ञ हूँ; अतः विज्ञपाठकों से यह अपेक्षा है कि वे कमियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करें, जिससे उनकी पुनरावृत्ति से बचा जा सके।

सभी जीव इन प्रवचनों के द्वारा जिनभक्ति का सम्यक्स्वरूप पहिचान कर आत्मसन्मुखता प्राप्त करें — इस भावना के साथ विराम लेता हूँ।

— देवेन्द्रकुमार जैन

दिनाङ्क - ०१ फरवरी २०१०

तीर्थधाम मङ्गलायतन

अलीगढ़-आगरा मार्ग,

सासनी, अलीगढ़ (उ०प्र०)

किसे जगती है भगवान की भावना ?

धर्मात्मा अपने भाव को देखता है। अपने भाव में राग का अभाव होकर वीतरागता की वृद्धि कैसे हो? — वही देखता है। वीतरागता के निमित्त तो निमित्त के कारण होते हैं; अन्दर स्वयं भगवान ही बैठा है। वह भगवानपना जिसे रुचा है, वह बाह्य में वीतरागी प्रतिबिम्ब में भगवान को स्थापित करता है। अपने भाव का निक्षेप करके कहता है कि यह भगवान है। वहाँ भाव तो अपना है न! प्रतिष्ठा के पश्चात् जब सीमन्धर भगवान जिनमन्दिर में पधारते थे, तब भक्त कहते थे कि पधारो भगवान पधारो। हे भगवान! आपको हम यहाँ पधारते हैं; इसलिए अब अन्दर से आपके जैसा स्वरूप है, वह प्रगट होगा ही।

अहा! बाहर में तो भगवान की स्थापना है और अन्दर में साक्षात् भगवान है। जिसे भाव में भगवानपना रुचा है, वह निमित्त में 'यह भगवान है' — ऐसा स्थापित करता है। वह अन्दर के भगवान का स्वीकार करते हुए भगवानपना प्रगट किये बिना नहीं रहेगा।

अहो! जिस क्षण आत्मा में भगवानपना प्रगट हो, उस घड़ी और उस पल को धन्य है। ऐसी भावना किसे जगती है? जिसे अन्तर में भगवान के समान अपना स्वभाव भासित हुआ हो, उसे ऐसी भावना होती है और वह अल्प काल में भगवान हुए बिना नहीं रहेगा।

(- सोनगढ़ प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रवचनों से)



॥ परमात्मने नमः ॥

विषापहार प्रवचन

यह महाकवि धनञ्जय द्वारा विरचित विषापहार स्तोत्र है। भगवान परमात्मा की प्रशंसा एवं बहुमान करने का जो स्वरूप है, उसे ही स्तुति कहा जाता है।

वस्तुतः तो यह निजात्म भगवान की ही स्तुति है। भगवान आत्मा परम अमृतस्वरूप है किन्तु उसकी पर्याय में अनादि से ही राग-द्वेष एवं उनके कर्तृत्व-एकत्वबुद्धिरूप विष प्रवर्तमान है। उस मिथ्यात्वरूप विष के अभाव का एकमात्र उपाय चैतन्यस्वरूप आत्मस्वभाव की दृष्टि एवं स्थिरता ही है।

इस स्तोत्र के रचयिता कविवर धनञ्जय, मालवा प्रान्त की उज्जैन नगरी के गृहस्थ सेठ थे। वे आठवीं शताब्दी में आज से लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व हुए थे। आचार्य मानतुङ्ग के वे परम भक्त थे।

एक बार उनके पुत्र को सर्प ने डंस लिया, जिससे वह बेहोश हो गया। कविवर की पत्नी को जब इस घटना का परिज्ञान हुआ तो उसने जिन-मन्दिर में भक्ति में निमग्न कवि धनञ्जय के समीप एक व्यक्ति को भेजा किन्तु भक्तिरस में तल्लीन कविवर को उक्त सन्दर्भ में कुछ भी ज्ञात न हो सका। तब आवेशवश उनकी पत्नी, बेहोश पुत्र को उनके समीप डाल गयी किन्तु जिनभक्ति की तन्मयता के कारण कविवर को इसका बोध न हो सका एवं जिनभक्ति की तन्मयता में ही इस चालीस श्लोक प्रमाण स्तोत्र की रचना हो गयी।

जब इसके चौदहवें श्लोक की रचना हुई, तब उसी क्षण कविवर का पुत्र निर्विष हो गया और इसी कारण यह स्तोत्र 'विषापहार' के नाम से सुविख्यात हो गया। स्तुति के कारण विष उतर गया हो — ऐसी बात नहीं थी किन्तु ऐसा ही कोई सहज सम्बन्ध बना था।

यह स्तोत्र श्रीआदिब्रह्म भगवान् ऋषभदेव की स्तुतिरूप है किन्तु सचमुच तो निज आदिब्रह्म भगवान् आत्मा के द्वारा अन्तर में साधकदशा का प्रारम्भ करना ही वास्तविक स्तुति है। ●

विषापहार नाम ज्यों?

जब इसके चौदहवें श्लोक की रचना हुई, तब उसी क्षण कविवर का पुत्र निर्विष हो गया और इसी कारण यह स्तोत्र 'विषापहार' के नाम से सुविख्यात हो गया। स्तुति के कारण विष उतर गया हो — ऐसी बात नहीं थी किन्तु ऐसा ही कोई सहज सम्बन्ध बना था।

काव्य १

॥ उपजाति छन्द ॥

स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्त-
व्यापारवेदी विनिवृत्तसङ्गः ।
प्रवृद्धकालोऽप्यजरो वरेण्यः,
पायादपायात्पुरुषः पुराणः ॥

॥ वीर छन्द ॥

अपने में ही स्थिर रहता है और सर्वगत कहलाता।
सर्व सङ्ग-त्यागी होकर भी सब व्यापारों का ज्ञाता ॥
काल-मान से वृद्ध बहुत है, फिर भी अजर-अमर स्वयमेव।
विपदाओं से सदा बचावे, वह पुराण पुरुषोत्तम देव! ॥

अन्वयार्थ — (स्वात्मस्थितः अपि सर्वगतः) आत्मस्वरूप में स्थित होकर भी सर्वव्यापक; (समस्तव्यापारवेदी अपि) सब व्यापारों के जानकार होकर भी (विनिवृत्तसङ्गः) परिग्रह से रहित; (प्रवृद्धकालः अपि अजरः) दीर्घ आयुवाले होकर भी बुढ़ापे से रहित तथा (वरेण्यः) श्रेष्ठ (पुराणः पुरुषः) प्राचीन पुरुष भगवान् वृषभनाथ! (नः) हम सबको (अपायात्) विनाश से (पायात्) बचावें — रक्षित करें।

भावार्थ — इस श्लोक में विरोधाभास अलङ्कार है। इस अलङ्कार में सुनते समय विरोध मालूम होता है, पर बाद में अर्थ का विचार करने से उसका परिहार हो जाता है। देखिए — जो अपने स्वरूप में स्थित होगा, वह सर्वव्यापक कैसे होगा? यह विरोध है; पर उसका परिहार यह है कि पुराण पुरुष, आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा अपने स्वरूप में ही स्थित हैं, तथापि उनका ज्ञान सब जगह के पदार्थों को जानता है; इसलिए ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत है।

जो सम्पूर्ण व्यापारों को जाननेवाला है, वह परिग्रहरहित कैसे हो सकता है? यह विरोध है; इसका परिहार यह है कि आप सर्व पदार्थों के स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिवर्तनों को जानते हुए भी कर्मों के सम्बन्ध से रहित हैं। इसी तरह दीर्घायु से सहित होकर भी बुढ़ापे से रहित हैं, यह विरोध है; इसका परिहार इस तरह है कि महापुरुषों के शरीर में वृद्धावस्था का विकार नहीं होता अथवा शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा वे कभी भी जीर्ण नहीं होते। इस तरह इस श्लोक में विघ्न बाधाओं से अपनी रक्षा करने के लिए पुराण पुरुष से प्रार्थना की गयी है।

काव्य १ पर प्रवचन

हे पुराण पुरुष! अर्थात् आदि-धर्म-कर्ता आदिनाथ भगवान! आप पुराण-पुरुष हैं। यों तो भगवान आत्मा पुराण-पुरुष है; चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा अनादि-अनन्त पुराण-पुरुष है। वस्तुतः पुरुष उसे ही कहा जाता है जो अपने चैतन्यपुर में शयन करे, विश्राम करे; विकार एवं पुण्य-पाप में मूर्च्छित होकर सोनेवाले को नपुंसक कहा जाता है।

निज अनन्तज्ञानादि चैतन्यपुर भगवान आत्मा में ही एकाकार होकर शयन करे, विश्राम या लीनता करे, उसे ही पुराण-पुरुष कहा जाता है। इस प्रकार भगवान आत्मा को पुराण-पुरुष कहा जाता है और भगवान को भी पुराण-पुरुष कहा जाता है।

हे नाथ! आप आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर भी सर्वव्यापक हैं — इस प्रकार कहकर यहाँ विरोधाभास अलङ्कार द्वारा जिनेन्द्रदेव की स्तुति की गयी है।

तात्पर्य यह है कि आप सबके ज्ञाता हैं, किन्तु आपको किसी भी पदार्थ की पकड़ नहीं है अर्थात् सबको जानते तो हैं, पर पकड़ किसी की नहीं है।

हे नाथ! आप दीर्घायु होने पर भी वृद्धावस्था से रहित हैं, आपका आयुष्य अत्यधिक लम्बा होने पर भी आपके शरीर में जर्जरता एवं वृद्धपना नहीं होता।

जिस तरह तीर्थङ्कर परमात्मा को वृद्धपना नहीं होता, उसी तरह यह भगवान आत्मा अनादि-अनन्त होने पर भी, इसके एक भी गुण में जीर्णता नहीं आती। नित्यानन्द आत्मा अनादि होने पर भी द्रव्यस्वभाव में किञ्चित् हीनाधिकता नहीं आती। शरीर की चमड़ी तो जीर्ण हो जाती है; किन्तु भगवान आत्मा में किञ्चित्मात्र भी जीर्णता नहीं आती। यह भगवान आत्मा तो अनादि से ऐसा ही एकरूप रहा है।

यहाँ धनञ्जय कवि ऐसे ही भगवान आत्मा की स्तुति करने हेतु तत्पर हुए हैं। व्यवहार अपेक्षा से भगवान ऋषभदेव की स्तुति करते हैं।

भाई! भगवान आत्मा ही परमपद को प्राप्त करता है; अतः वही ऋषभ है। आ हा हा! इसकी क्या बात करें? पूर्णानन्द प्रभु एक समय में सम्पूर्णरूप ध्रुव है, इसमें विकार की पकड़ अथवा प्रवेश नहीं है।

भगवान से प्रार्थना करते हुए यहाँ कहते हैं कि हे भगवान! आप श्रेष्ठ पुरुष हैं; अतः हमारी रक्षा करना अर्थात् हे भगवान आत्मा! विकार का नाश कर, हमें विकार से बचाओ।

यहाँ विरोधाभास अलङ्कार होने से सुनते समय विरोध-सा प्रतीत होता है, तथापि अर्थ का विचार करने पर विरोध विसर्जित हो जाता है।

यह पुराण-पुरुष सर्व का ज्ञाता होने पर भी स्वरूप में स्थित है। ज्ञान की अपेक्षा सर्वस्थित अर्थात् त्रिकालवर्ती सर्वपदार्थों को, उनके द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जानता है, तथापि यह तो परपदार्थ के ग्रहण-त्याग से शून्य निजस्वरूप में ही स्थित है।

पर्याय में विकार तथा बाह्य में प्रतिकूलता है। इन दोनों के लक्ष्य का परित्याग कर आत्मरक्षा करने की भगवान से प्रार्थना की गयी है। जिस तरह कविवर का बेहोश पुत्र भगवान की भक्ति करते ही सचेत हो जाता है; उसी तरह अनादि से ही अपनी पर्याय में बेहोश यह भगवान आत्मा भी चैतन्य का उल्लास आते ही सचेत हो जाता है।

यद्यपि यहाँ भगवान की स्तुति करते हुए किसी भी प्रकार के वरदान की आकाँक्षा नहीं की गयी है, तथापि बिना आकाँक्षा के ही बालक का विष उतर जाता है। इसी तरह आत्मा के अन्तर ज्ञान एवं ध्यान के फलस्वरूप बिना याचना के ही मिथ्याभ्रान्ति एवं राग-द्वेष का अभाव, सहज स्वभाव की धुन में हो जाता है।

भाई! ऐसा भगवान आत्मा अन्तर में ही विराजमान है, जो राग-द्वेष के अभाव का कारण है और व्यवहार अपेक्षा भगवान की भक्ति से राग-द्वेष का अभाव हुआ — ऐसा व्यवहार भी है। ●

अनित्यता की गोद

यह शरीर जन्म प्राप्त करता है, इससे पूर्व ही अनित्यता ने इसे गोद में ले लिया है; माता तो बालक को बाद में गोद लेती है अर्थात् बालक का जन्म हो और माता उसे गोद में ले, उसके पूर्व ही अनित्यता उसे अपनी गोद में ले लेती है।

- कार्तिकेयानुप्रेक्षा

काव्य - २

परैरचिन्त्यं युगभारमेकः,
स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्यः।
स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न भानोः,
किमप्रवेशे विशति प्रदीपः ॥

जिसने पर-कल्पनातीत, युग-भार अकेले ही झेला।
जिसके सुगुण-गान मुनिजन भी, कर नहीं सके एक बेला ॥
उसी वृषभ की विशद विरद यह, अल्पबुद्धि जन रचता है।
जहाँ न जाता भानु वहाँ भी, दीप उजेला करता है ॥

अन्वयार्थ — (परैः) दूसरों के द्वारा (अचिन्त्यम्) चिन्तन करने के अयोग्य (युगभारम्) कर्मयुग के भार को (एकः) अकेले ही (वहन्) धारण किये हुए तथा (योगिभिः अपि) मुनियों के द्वारा भी (स्तोतुम् अशक्यः) जिनकी स्तुति नहीं की जा सकती है - ऐसे (असौ वृषभः) वे भगवान् वृषभनाथ (अद्य) आज (मे स्तुत्यः) मेरे द्वारा स्तुति करने के योग्य हैं अर्थात् आज मैं उनकी स्तुति कर रहा हूँ, सो ठीक है। (भानोः) सूर्य का (अप्रवेश) प्रवेश नहीं होने पर (किम्) क्या (प्रदीपः) दीपक (न विशति) प्रवेश नहीं करता ? अर्थात् करता है।

भावार्थ — भगवन्! यहाँ जब भोगभूमि के बाद कर्मभूमि का समय प्रारम्भ हुआ था, उस समय की सब व्यवस्था आप अकेले ही कर गये थे। इस तरह आपकी विलक्षण शक्ति को देखकर योगी भी कह उठे कि मैं आपकी स्तुति नहीं कर सकता, पर आज मैं आपकी स्तुति कर रहा हूँ। इसका कारण मेरा अभिमान नहीं है, पर मैं सोचता हूँ कि जिस गुफा में सूर्य का प्रवेश नहीं हो पाता, उस गुफा में भी दीपक प्रवेश कर लेता है। यह ठीक है कि दीपक, सूर्य की भाँति गुफा के सब पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता; उसी तरह मैं भी योगियों की तरह आपकी पूर्ण स्तुति नहीं कर सकूँगा, फिर भी मुझमें जितनी सामर्थ्य है, उससे बाज क्यों आऊँ? ॥ २ ॥

काव्य २ पर प्रवचन

कैसे हैं भगवान? अन्य के द्वारा चिन्तन में आने योग्य नहीं हैं अर्थात् चिन्तन के अगोचर हैं। इसी तरह यह भगवान आत्मा भी विकल्पात्मक चिन्तन का विषय नहीं है। यह तो विकल्पातीत, वचनातीत एवं मनातीत स्वानुभवगम्य वस्तु है।

हे भगवान! हे आदिप्रभु!! जब इस भरतक्षेत्र में कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ था, तब आपने अकेले ही इस भरतक्षेत्र के भार का निर्वाह किया था। इसी तरह भगवान आत्मा में एकाग्रता का प्रादुर्भाव होने पर समस्त भावों की शुद्धता का भार यह आत्मा अकेले ही वहन करता है। आत्मा की शक्ति-सामर्थ्य को वहन कर सके — ऐसी सामर्थ्य विकल्प में कहाँ?

अहा! जगत के पुण्योदय के कारण ही कुदरत में कल्पवृक्ष सदृश भगवान हुए हैं। वस्तुतः वे तो कल्पवृक्षसम निज स्वभाव में ही स्थित थे। कल्पवृक्ष सदृश भगवान आत्मा की स्तुति करते हुए कदाचित्

पुण्य अल्प भी हो, तथापि यह तो पर की अपेक्षारहित स्वयं ही पूर्णानन्द से परिपूर्ण वस्तु है; अतः यथार्थ में तो आत्मा ही कल्पवृक्ष है और व्यवहार में यहाँ भगवान ऋषभदेव को कल्पवृक्ष समान कहा गया है।

हे भगवान! आपका स्तवन करने में तो महामुनि भी समर्थ नहीं हैं। सर्वार्थसिद्धि के देव तेतीस-तेतीस सागर तत्त्वचर्चा करते हैं, तथापि पार नहीं पड़ता; अन्तर अनुभव से ही पार पड़ता है। बड़े-बड़े मुनिराज भी आपकी स्तुति करने में असमर्थ हैं, तथापि आज मैं आपकी स्तुति करने के लिए तत्पर हुआ है।

हे भगवान! जैसे सूर्य के अभाव में दीपक से भी प्रकाश होता है; उसी प्रकार आप तो अन्तर में परिपूर्णरूप से विराजमान हैं — ऐसी परिपूर्णता तो वर्तमान में प्रगट नहीं हो सकती; अतः अभी तो हम अल्पज्ञान द्वारा ही चैतन्य की सँभाल करते हैं।

जैसे जिस गुफा में सूर्य का प्रवेश असम्भव हो, वहाँ दीपक द्वारा ही प्रकाश सम्भव होता है; इसी तरह आपकी महानता तो सूर्य के समान विशाल होने से बड़े-बड़े महापुरुष भी आपके गुणगान करने में समर्थ नहीं हो सकते; तथापि मैं दीपक समान अल्पशक्तवान आपकी स्तुति करता हूँ। जितनी मेरी सामर्थ्य है, उससे ही मैं आपकी स्तुति करूँगा। वर्तमान में भले ही मैं पूर्णता प्राप्त न कर सकूँ, तथापि मेरा जितना पुरुषार्थ वर्तमान में है, उससे ही मैं निजस्वरूप की शुद्धता प्रगट करूँगा। ●

काव्य ३

तत्याज शक्रः शकनाभिमानं,
नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम्।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं,
वातायनेनेव निरूपयामि ॥

शक्र सरीखे शक्तिवान ने, तजा गर्व गुण गाने का।
किन्तु न मैं साहस छोड़ूँगा, विरदावली बनाने का ॥
अपने अल्पज्ञान से ही मैं, बहुत विषय प्रकटाऊँगा।
इस छोटे वातायन से ही, सारा नगर दिखाऊँगा ॥

अन्वयार्थ — (शक्रः) इन्द्र ने (शकनाभिमानम्) स्तुति कर सकने की शक्ति का अभिमान (तत्याज) छोड़ दिया था किन्तु (अहम्) मैं (स्तवनानुबन्धम्) स्तुति के उद्योग को (न त्यजामि) नहीं छोड़ रहा हूँ। मैं (वातायनेन इव) झरोखे की तरह (स्वल्पेन बोधेन) थोड़े से ज्ञान के द्वारा (ततः) उससे (अधिकार्थम्) अधिक अर्थ को (निरूपयामि) निरूपित कर रहा हूँ।

भावार्थ — जिस तरह छोटे से झरोखे में झाँककर उससे कई गुणी बड़ी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है; उसी तरह मैं भी अपने

अल्पज्ञान से जानकर आपके गुणों का वर्णन कर रहा हूँ। मुझे अपनी इस अनोखी सूझ पर हर्ष और विश्वास दोनों हैं, इसलिए मैं इन्द्र की तरह अपनी शक्ति को नहीं छिपाता ॥ ३ ॥

काव्य ३ पर प्रवचन

भगवान के गुणों की अपरिमितता को लक्ष्य में लेते हुए कवि कहते हैं कि हे प्रभो! महा-सामर्थ्यवान इन्द्र ने भी आपकी स्तुति करने के अभिमान का परित्याग कर दिया है किन्तु हे जिनेन्द्र! मैं स्तुति करने के उद्वेग का त्याग नहीं करूँगा। अन्तर आत्मा भी आपकी स्तुति करते-करते अन्तर स्वरूप में ही स्थिर हो गये और पूर्ण पवित्रदशा को प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार हे प्रभु! मैं भी अपने शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरता धारण कर परिपूर्ण पवित्रपद को प्राप्त करूँगा; अब पीछे नहीं रहूँगा।

देखो! गृहस्थदशा में भी कैसा पुरुषार्थ उछाला है। अहा! स्तुतिकार कविवर का नाम धनञ्जय था। धनञ्जय अर्थात् धन्य जिसका आत्मा, उसकी जय हुई है; अतः धनञ्जय यह उनका सार्थक नाम था।

हे भगवान! जिस प्रकार छोटे से झरोखे से भी बहुत कुछ देखा जा सकता है, अथवा आँख छोटी होने पर भी बड़े-बड़े हाथियों को देख लेती है; इसी प्रकार मेरा ज्ञान भले ही अल्प है, तथापि उस अल्पज्ञान द्वारा ही मैं आप जैसे सर्वज्ञ की स्तुति करूँगा।

यद्यपि मेरा ज्ञान अल्प है, मतिश्रुतरूप है; तथापि इसके द्वारा मैं अपने परिपूर्ण स्वभाव को देखूँगा, साक्षात्कार करूँगा। जैसे, छोटे से छिद्र में हाथी दिखता है; उसी प्रकार अल्पज्ञान में भी अनन्त शक्तिसम्पन्न सम्पूर्ण आत्मा दिखता है, अनुभव में आता है।

श्रीसमयसार परमागम में तीर्थङ्कर भगवान की निश्चयस्तुति के स्वरूप का समाधान करते हुए कहा है कि तीर्थङ्कर अर्थात् निजात्मा

मात्र आनन्दकन्द स्वरूप है, उसी में एकाकार होकर आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करना — यह निश्चय से आत्मा की स्तुति है और व्यवहार से भगवान की स्तुति है — ऐसा व्यवहार भी है।

देखो! प्रश्न यह था कि तीर्थङ्कर की स्तुति कैसे करते हैं? और उत्तर यह दिया कि भगवान आत्मा पूर्णानन्द स्वरूप है — इस प्रकार प्रश्न भगवान की स्तुति का किया गया और उत्तर में आत्मा के स्वरूप की बात की। यहाँ किसी को ऐसा लगे कि समाधानकर्ता आचार्य कुन्दकुन्द से भूल हो गयी होगी किन्तु ऐसा नहीं है; उन्होंने तो सम्यक् समाधान प्रस्तुत किया है। जैसे, छोटी सी आँख ऊँचे पर्वत पर विचरती पच्चीस-पचास गायों को देख लेती है; उसी प्रकार अल्प क्षयोपशमज्ञान द्वारा भी परिपूर्ण सर्वज्ञता का निर्णय हो सकता है।

हे जीव! अल्पज्ञान द्वारा निज सर्वज्ञस्वभाव का समीचीन निर्णय करना ही भगवान की वास्तविक स्तुति है। ●

मिथ्याभ्रान्ति का नाश

यद्यपि यहाँ भगवान की स्तुति करते हुए किसी भी प्रकार के वरदान की आकाँक्षा नहीं की गयी है, तथापि बिना आकाँक्षा के ही बालक का विष उतर जाता है। इसी तरह आत्मा के अन्तर ज्ञान एवं ध्यान के फलस्वरूप बिना याचना के ही मिथ्याभ्रान्ति एवं राग-द्वेष का अभाव, सहज स्वभाव की धुन में हो जाता है।

काव्य ४

त्वं विश्वदृशवा सकलैरदृश्यो,
विद्वानशेषं निखिलैरवैद्यः।
वक्तुं कियान्कीदृश इत्यशक्यः,
स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु ॥

तुम सब-दर्शी देव किन्तु, तुमको न देख सकता कोई।
तुम सबके ही ज्ञाता पर, तुमको न जान पाता कोई ॥
'कितने हो' 'कैसे हो' यों कुछ, कहा न जाता हे भगवान्।
इससे निज अशक्ति बतलाना, यही तुम्हारा स्तवन महान ॥

अन्वयार्थ — (त्वम्) आप (विश्वदृशवा अपि) सबको देखनेवाले हैं किन्तु (सकलैः) सबके द्वारा (अदृश्यः) नहीं देखे जाते। आप (अशेषम् विद्वान्) सबको जानते हैं, पर (निखिलैः अवैद्यः) सबके द्वारा नहीं जाने जाते। आप (कियान् कीदृशः) कितने और कैसे हैं? (इति) यह भी (वक्तुम् अशक्यः) नहीं कहा जा सकता, (ततः) इसलिए (तव स्तुतिः) आपकी स्तुति (अतिशक्तिकथा) मेरी असामर्थ्य की कहानी ही (अस्तु) हो।

भावार्थ — आप सबको देखते हैं, पर आपको देखने की किसी में शक्ति नहीं है। आप सबको जानते हैं, पर आपको जानने की किसी

में शक्ति नहीं है। आप कैसे और कितने परिमाणवाले हैं? — यह भी कहने की किसी में शक्ति नहीं है। इस तरह आपकी स्तुति मानो अपनी अशक्ति की चर्चा करना ही है।

इससे पहले के श्लोक में कवि ने कहा था कि इन्द्र ने भी आपकी स्तुति करने का अभिमान छोड़ दिया है, पर मैं नहीं छोड़ूँगा अर्थात् मुझमें स्तुति करने की शक्ति है, पर जब वे स्तुति करना प्रारम्भ करते हैं और प्रारम्भ में ही उन्हें कहना पड़ता है कि सब में आपको देखने की, जानने की अथवा कहने की शक्ति नहीं है; जिसका तात्पर्य अर्थ यह होता है कि मुझमें भी उसकी शक्ति नहीं है, तब उन्हें भी अन्त में स्वीकार करना पड़ता है कि इन्द्र ने जो शक्ति का अभिमान छोड़ा था, वह ठीक ही किया था और मेरे द्वारा की गयी यह स्तुति भी मेरी अशक्ति की कथा ही हो ॥ ४ ॥

काव्य ४ पर प्रवचन

हे भगवान! आप समस्त वस्तुओं के दृष्टा हैं किन्तु सबके द्वारा आप जानने में नहीं आते — इस प्रकार यहाँ विरोधाभास अलङ्कार का प्रयोग किया गया है। आशय यह है कि आप तो सबको जानते हो, पर आपको कोई नहीं जान सकता।

भाई! आत्मवस्तु विकल्पातीत होने से विकल्पग्राह्य नहीं है किन्तु विकल्पातीत होकर आत्मा अपने अनन्त गुणों को जान लेता है।

हे भगवान! मैं आपकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हूँ — इस प्रकार अपनी असमर्थता की अभिव्यक्ति ही आपकी स्तुति है। आप कैसे हो? आपकी सामर्थ्य कितनी है? इन सबको तो आपका ज्ञान ही पार पा सकता है अर्थात् जान सकता है — ऐसे सर्व शक्तिवान आपको जानने में मैं असमर्थ हूँ। आपका स्वभाव अपरिमित है; इसलिए आपकी स्तुति अर्थात् मेरी अशक्ति की चर्चा।

कवि ने पूर्व में कहा था कि इन्द्र भी आपकी स्तुति करने में असमर्थ है, तथापि मैं आपकी स्तुति करूँगा और अब यहाँ कहते हैं कि आपकी स्तुति करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है किन्तु अपनी असमर्थता की अभिव्यक्ति में ही आपकी स्तुति गर्भित है अर्थात् 'मैं पर्याय में निर्बल हूँ' — इस प्रकार के स्वीकार में ही गर्भितरूप से यह स्वीकार हो जाता है कि मैं द्रव्यस्वभाव से अनन्त शक्तिसम्पन्न प्रभु हूँ।

द्रव्य में तो परिपूर्ण सामर्थ्य है किन्तु पर्याय में इतनी सामर्थ्य नहीं है। अज्ञानीजन विकल्प से द्रव्य का माहात्म्य करना चाहते हैं, किन्तु विकल्प से माहात्म्य पूरा नहीं पड़ता; अतः विकल्प द्वारा आत्मा की यथार्थ स्तुति नहीं होती।

नितप्रति, मात्र भगवान के दर्शन तो किए किन्तु क्या नित्य ही अकेले आत्मा के दर्शन किए हैं? अरे! भगवान के दर्शन का परिणाम तो शुभभाव है; वस्तुतः तो अन्तर स्वरूप निजभगवान आत्मा के दर्शन बिना, पर भगवान के दर्शन भी सम्यक् नहीं हो सकते।

जगत के अज्ञानीजन तो ऐसा मानते हैं कि प्रतिदिन भगवान के दर्शन करना ही 'दर्शनप्रतिमा' है किन्तु भाई! वस्तुतः अन्तर में निजात्मभगवान के दर्शन करना ही दर्शनप्रतिमा है। जिसे अन्तर में निज चिदानन्दप्रभु का विश्वास जागृत हुआ है, सचमुच तो उसी ने भगवान के दर्शन किए हैं। व्यवहार-व्यवहार करने से सारा ही परमार्थ तत्त्व रह गया है और मात्र ऊपरी-ऊपरी माहात्म्य में ही सबकुछ समाविष्ट हो गया है किन्तु भाई! निश्चय-सापेक्ष व्यवहार ही वस्तुतः सम्यक् व्यवहार है; निश्चय-निरपेक्ष व्यवहार तो सम्यक् व्यवहार है ही नहीं। ●

काव्य ५

व्यापीडितं बालमिवात्मदोषै-

रुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वम् ।

हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः,

सर्वस्यजन्तोरसि बालवैद्यः ॥

बालक सम अपने दोषों से, जो जन पीड़ित रहते हैं ।
उन सबको हे नाथ! आप, भवताप रहित नित करते हैं ॥
यों अपने हित और अहित का, जो न ध्यान धरनेवाले ।
उन सबको तुम बालवैद्य हो, स्वास्थ्य दान करनेवाले ॥

अन्वयार्थ — (त्वम्) आपने (बालम् इव) बालक की तरह
(आत्मदोषैः) अपने द्वारा किये गये अपराधों से (व्यापीडितम्)
अत्यन्त पीड़ित (लोकम्) संसारी मनुष्यों को (उल्लाघताम्) निरोगता
(अवापिपः) प्राप्त करायी है । निश्चय से आप (हिताहितान्वेषण-
मान्द्यभाजः) भले-बुरे के विचार करने में मूर्खता (मन्दता) को प्राप्त
हुए (सर्वस्व जन्तोः) सब प्राणियों के (बालवैद्यः) बालवैद्य हैं ।

भावार्थ — जिस तरह बालकों की चिकित्सा करनेवाला वैद्य
अपनी भूल से पैदा किये हुए वात, पित्त, कफ आदि दोषों से पीड़ित
बालकों को अच्छे-बुरे का ज्ञान कराकर, उन्हें निरोग बना देता है और

अपने 'बालवैद्य' नाम को सार्थक बना लेता है; उसी तरह आप भी
हित और अहित के निर्णय करने में असमर्थ बाल अर्थात् अज्ञानी जीवों
को हित-अहित का बोध कराकर, संसार के दुःखों से छुड़ाकर स्वस्थ
बना देते हैं । इस तरह आपका भी 'बालवैद्य' अर्थात् 'अज्ञानियों के
वैद्य' यह नाम सार्थक सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

काव्य ५ पर प्रवचन

कवि के पुत्र का विष उतरकर निर्विष होने की तैयारी है और
कवि भक्ति में निमग्न हैं ।

हे भगवान! आप बालवैद्य के समान हमारे वैद्य हैं । आप मिथ्यादृष्टि
के मिथ्यात्व तथा अत्रती के अत्रत को टालने के लिए सभी के वैद्य हैं ।

हे आत्मन्! तू स्वयं ही राग-द्वेष की चिकित्सा करके, उन्हें
मिटानेवाला है, इसी तरह अस्थिरतारूप रोग का भी नाशक है ।

जो जीव मोक्ष तथा मोक्षमार्ग, संसार तथा संसार के कारणों के
विचार से विहीन है, वह वस्तुतः अज्ञानी है — ऐसे सभी अज्ञानी
जीवों के लिए आप वैद्य हैं ।

जैसे वैद्य, बालक के वात, पित्त और कफादिरूप दोषों का परिज्ञान
कराकर उसे निरोगता देते हैं; उसी तरह आप भी बाल अर्थात् संसारी
जीवों के संसाररूपी महारोग का अभाव करनेवाले हैं ।

वस्तुतः पुण्य-पाप के विकारी परिणामों में अटकना ही अस्वस्थता
है और इस अस्वस्थता के नाशक भगवान हैं । आपका भान होने पर
अज्ञान का नाश होता है; अतः आपका 'बालवैद्य' यह सार्थक नाम है ।

देखो! इस विषापहार स्तोत्र में ऋषभदेव भगवान की स्तुति चल
रही है । सचमुच तो यह भगवान आत्मा की ही स्तुति है । व्यवहारभक्ति

के पीछे निश्चयभक्ति परिणमनरूप से होने पर ही भगवान की उस स्तुति या भक्ति को व्यवहार कहा जा सकता है।

जिसे भगवान आत्मा की दैवी शक्तियों के श्रद्धान-ज्ञानरूप परिणमन एवं साथ ही भगवान की भक्ति का विकल्प भी प्रवर्तित है, उसके अन्तरङ्ग शुद्धि की अभिवृद्धि के साथ-साथ लोकोत्तर पुण्य भी बँधता है — ऐसी निश्चयपूर्वक व्यवहारभक्ति की यहाँ बात है, जो कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा के ही सम्यक् रूप से होती है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि हे भगवान! आप अज्ञानी जीवों के वैद्य हैं, चिकित्सक हैं। आपने ही अज्ञानी जीवों के जन्म-मरणरूप रोगों का नाशक सम्यक् उपाय दर्शाया है। आप ही सर्वज्ञ हैं; अतः आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी अज्ञानियों के अनादिकालीन जन्म-मरण के अभाव के लिए समर्थ नहीं है।

अहो! धनञ्जय कवि तो भक्ति की मूसलाधार वर्षा करते हैं, वे तो भक्ति में ही तल्लीन हैं। ●

चैतन्य की सँभाल

हे भगवान! जैसे सूर्य के अभाव में दीपक से भी प्रकाश होता है; उसी प्रकार आप तो अन्तर में परिपूर्णरूप से विराजमान हैं — ऐसी परिपूर्णता तो वर्तमान में प्रगट नहीं हो सकती; अतः अभी तो हम अल्पज्ञान द्वारा ही चैतन्य की सँभाल करते हैं।

काव्य ६

दाता न हर्ता दिवसं विवस्वा-
नद्य श्व इत्यच्युत! दर्शिताशः।
सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः,
क्षणो न दत्सेऽभिमतं नताय ॥

देने-लेने का काम कुछ, आज कल परसों करके।
दिन व्यतीत करता अशक्त रवि, व्यर्थ दिलासा दे करके ॥
पर हे अच्युत जिनपति! तुम यों, पल भर भी नहीं खोते हो।
शरणागत नत भक्तजनों को, त्वरित इष्ट फल देते हो ॥

अन्वयार्थ — (अच्युत) हे उदारता आदि गुणों से सहित जिनेन्द्रदेव! (विवस्वान्) सूर्य तो (न दाता न हर्ता) न कुछ देता है, और न कुछ अपहरण करता है, सिर्फ (अद्य श्वः) आज... कल... (इति) इस तरह करके (दर्शिताशः) आशा [दूसरे पक्ष में 'दिशा'] दिखाता हुआ (अशक्तः सन्) असमर्थ होकर (एवम्) ऐसे ही — बिना लिये-दिये ही (सव्याजम्) कपटसहित (दिवसम्) दिन को (गमयति) बिता देता है किन्तु हे प्रभु! आप (नताय) नम्र मनुष्य के लिए (क्षणो न) क्षणभर में (अभिमतम्) इच्छित वस्तु (दत्से) दे देते हैं।

भावार्थ — लोग सूर्योदय होते ही हाथ जोड़कर सिर झुकाकर 'नमो नारायण' कहते हुए सूर्य को नमस्कार करते हैं और उससे इच्छित वरदान माँगते हैं, पर वह 'आज दूँगा, कल दूँगा' इस तरह आशा दिखाता हुआ दिन बिता देता है; किसी को कुछ देता-लेता नहीं है क्योंकि वह असमर्थ जो ठहरा, पर आप नम्र मनुष्य को उसकी इच्छित वस्तु क्षणभर में दे देते हैं; इस तरह आप सूर्य से भी बढ़कर हैं ॥ ६ ॥

काव्य ६ पर प्रवचन

आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रवचनसार गाथा ८० में कहते हैं कि जो जीव, अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, लक्ष्य एवं रुचि में लेता है, वह सर्वज्ञपद ऐसा होता है, मोक्षतत्त्व ऐसा ही होता है, अरिहन्त और सिद्ध की पर्याय ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण होती है — इस प्रकार श्रद्धा एवं विश्वास करके, मेरा आत्मा भी अरिहन्त — सिद्ध की भाँति ही शुद्ध है — इस तरह मिलान करके सम्यक्त्वरूप से परिणामित हो जाता है।

हे प्रभो! मैंने कभी भी आपकी भक्ति नहीं की। तीन लोक, तीन काल की समस्त पर्यायों को हस्तकमलवत् प्रत्यक्ष जाननेवाली ज्ञानपर्याय जिस द्रव्यस्वभाव में से आती है, ऐसे द्रव्यस्वभाव की श्रद्धा मैंने आज तक नहीं की। अनादि से आज तक मैं कभी आपका दास हुआ ही नहीं; किन्तु हे प्रभो! मैं अब आपको पहिचानकर आपका दास हुआ हूँ।

अज्ञान सूर्य को देव कहते हैं, नारायण कहते हैं। प्रातःकाल उठकर उसे प्रणाम करते हैं किन्तु यह सूर्य तो प्रातः उदित होकर सायंकाल अस्त हो जाता है और न कुछ देता है किन्तु हे भगवान! यथार्थतः तो आप ही उदारवादी गुणों से युक्त सच्चे देव हैं और कभी अस्त न होने से अच्युत हैं।

जो जीव, विनयपूर्वक भक्तिभाव से आपको नमस्कार करता है, उसे आप क्षणमात्र में ही इच्छित वस्तु प्रदान करते हैं अर्थात् आपके स्वरूप के सम्यक्परिज्ञानपूर्वक विनयसहित आपकी स्तुति करनेवाले जीव को तत्क्षण ही आत्मोपलब्धि हो जाती है। आत्मस्वभाव में स्थिरता प्राप्त होने पर सर्वस्व प्राप्त हो जाता है, साथ ही लोकोत्तर पुण्यबन्ध के फलस्वरूप बाह्य में भी सब प्रकार की सम्पत्ति सहज ही प्राप्त हो जाती है। अतः उपचार से ही 'भगवान सर्वस्व दाता हैं' — यह कथन सम्भावित है।

यह सूर्य तो मात्र दिशा का ही दिग्दर्शन कराता है, आत्मिकदशा को उपलब्ध कराने में तो यह सर्वथा असमर्थ ही है किन्तु जिसने अपने चैतन्य महाप्रभु की दृष्टि करके दृष्टिपथ में उसे स्वीकार किया, उसकी तो सारी दिशा एवं दशा ही परिवर्तित हो जाती है।

भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है। उसमें नमने से-विनय करने से पर्याय में सम्यक्त्व एवं शान्ति की प्राप्ति होती है। अरे! अल्पकाल में केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अहो! अल्पकाल में केवलज्ञान को प्राप्त करे - ऐसा प्रभु तू स्वयं है। तू तो जुदी ही जाति का चैतन्यसूर्य है। तेरे प्रकाश की तो जाति ही जुदी है। उसी का लक्ष्य एवं एकाग्रता करने से अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त होता है। अरे! केवलज्ञान की प्राप्ति के समक्ष बाह्य वैभव की प्राप्ति के कारणरूप पुण्य की तो विशेषता ही क्या है? अर्थात् कुछ भी विशेषता नहीं है।

ज्ञानी को तो एकमात्र पूर्णानन्द की प्राप्ति की ही भावना है, जिसे सूर्य कदापि नहीं दे सकता।

हे भगवान! आप धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष सर्वस्व प्रदाता हैं। जिस प्रकार सूर्य की किरण पड़ते ही कमल विकसित हो जाता है,

खिल उठता है; उसी प्रकार आप चैतन्यसूर्य की किरणें पड़ते ही हमारा आत्मा खिल उठता है। यद्यपि ध्रुवधाम भगवान तो पर्याय में नहीं आता, तथापि उसकी शक्ति की भक्ति (प्रतीति) एवं एकाग्रता करने से शक्ति पर्याय में अभिव्यक्त हो जाती है, भगवान आत्मा निहाल हो जाता है।

जगत के अज्ञानीजन सूर्य को नारायण कहते हैं किन्तु वस्तुतः नारायण तो यह भगवान आत्मा ही है। नर से नारायण होते हैं अर्थात् सर्वज्ञ भगवान, नर से नारायण होते हैं।

वस्तुतः बात तो यह है कि चक्रवर्ती को चक्षुइन्द्रिय सम्बन्धी क्षयोपशम ऐसा अद्भुत होता है कि वह सूर्य के विमान में विराजित रत्नमयी जिनबिम्बों का अपने महल से ही प्रतिदिन प्रातः दर्शन करता था किन्तु सामान्यजनों का इस रहस्य से अनभिज्ञ होने के कारण सूर्य को ही नमस्कार करना रह गया।

अरे! अन्तर में निज भगवान आत्मा के परिज्ञान बिना कदाचित् सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के दर्शन भी करे तथापि वह धर्म नहीं है। पूर्णानन्द प्रभु स्वयं ही केवलज्ञान का सूर्य है। उसे पहिचानकर उसी में जमे-रमे-एकाग्रता करे, तभी सम्यक्त्वरूप धर्म की प्राप्ति होती है और आत्मभानसहित जिनेन्द्र भगवान को नमस्कारादि करनेवालों को उत्कृष्ट पुण्य का बन्ध होता है।

हे भगवान! इस प्रकार आप सूर्य से भी महान हैं। ●



काव्य ७

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि,
त्वयि स्वभावाद्द्विमुखश्च दुःखम्।
सदावदातद्युतिरेकरूप
स्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ॥

भक्तिभाव से सुमुख आपके, रहने वाले सुख पाते।
और विमुखजन दुःख पाते हैं, राग-द्वेष नहीं तुम लाते ॥
अमल सुदुतिमय चारु आरसी, सदा एक-सी रहती ज्यों।
उसमें सुमुख-विमुख दोनों ही, देखें छाया ज्यों की त्यों ॥

अन्वयार्थ — (त्वयि सुमुखः) आपके अनुकूल चलनेवाला पुरुष (भक्त्या) भक्ति से (सुखानि) सुखों को (उपैति) प्राप्त होता है (च) और (विमुखः) प्रतिकूल चलनेवाला पुरुष (स्वभावात्) स्वभाव से ही (दुःखम् 'उपैति') दुःख पाता है; किन्तु (त्वम्) आप (तयोः) उन दोनों के आगे (आदर्श इव) दर्पण की तरह (सदा) हमेशा (अवदातद्युतिः) उज्ज्वल कान्तियुक्त तथा (एकरूपः) एक सदृश (अवभासि) शोभायमान रहते हैं।

भावार्थ — जिस प्रकार दर्पण के सामने मुँह करनेवाला पुरुष दर्पण में अपना चेहरा देखकर स्वयं सुखी होता है और पीठ देकर खड़ा

हुआ पुरुष अपना चेहरा न देख सकने से स्वयं दुःखी होता है; उनके सुख-दुःख में दर्पण कारण नहीं है। दर्पण तो उन दोनों के लिए हमेशा एकरूप ही हैं, पर वे दो मनुष्य अपनी अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया से अपने आप सुखी और दुःखी होते हैं।

इसी प्रकार जो मनुष्य आपके विषय में सुमुख होता है अर्थात् आपको पूज्य दृष्टि से देखता है, आपकी भक्ति करता है, वह शुभकर्मों का बन्ध होने अथवा अशुभकर्मों की निर्जरा होने से स्वयं सुखी होता है और जो आपके विषय में विमुख रहता है अर्थात् आपको पूज्य नहीं समझता और न आपकी भक्ति ही करता है, वह अशुभकर्मों का बन्ध होने से दुःख पाता है। उनके सुख-दुःख में आप कारण नहीं हैं; आप तो हमेशा दोनों के लिए राग-द्वेष रहित और चैतन्य-चमत्कारमय एकरूप ही हैं ॥ ७ ॥

काव्य ७ पर प्रवचन

देखो! यह कवि के हृदयोद्गार — हे भगवान! आपके अनुकूल प्रवर्तन करनेवाले, आपकी आज्ञानुसार चलनेवाले अर्थात् स्वरूपाराधना में तत्पर सम्यक्त्ववन्त जीव आपकी कृपा से लोकोत्तर अभ्युदय को प्राप्त करते हैं। इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव इत्यादि की लोकोत्तर सम्पदा को प्राप्त करते हैं किन्तु जो जीव आपके प्रतिकूल प्रवर्तते हैं, वे सहज ही नरक-निगोदादि के दुःखों को प्राप्त होते हैं।

हे प्रभो! आप तो सभी के लिए दर्पणवत् समान हैं। जिस प्रकार दर्पण के सन्मुख अपना चेहरा करनेवाले तो स्वयं ही दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर आनन्दित होते हैं और दर्पण की तरफ पीठ करनेवाले अपना प्रतिबिम्ब न देख पाने के कारण स्वयं ही दुःखित होते हैं; इसमें दर्पण का तो किञ्चित् भी दोष नहीं है, वह तो दोनों के लिए समानरूप

से ही चेहरे को प्रतिबिम्बित करनेवाला है। इसी प्रकार आप जैसे त्रिलोकीनाथ की भक्ति करनेवाले जीव तो सहज सुखोपलब्धि करते हैं और आपसे विमुख रहनेवाले अज्ञानीजन स्वयं ही दुःखी होते हैं, इसमें आपका किञ्चित् भी दोष नहीं है क्योंकि आप तो वीतरागी हैं, आप तो राग-द्वेषपूर्वक किसी को सुख-दुःख प्रदाता है ही नहीं।

अहो! जो जीव निज चैतन्य महाप्रभु की दृष्टि करता है अर्थात् उसके सन्मुख होता है, उसमें एकाग्रता करता है, उसकी पर्याय में सहज ही शान्ति का प्रादुर्भाव होता है और निज द्रव्यस्वभाव की उपेक्षा करके जो जीव पुण्य-पाप एवं संयोगों की अपेक्षा करता है, वह पर्याय में दुःखी होता है, चतुर्गति में परिभ्रमण करता है। निज चैतन्यरूप की एकाग्रता करनेवाले जीव को ही मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है किन्तु चैतन्यप्रभु तो सदा एकरूप ही विराजमान है, वह तो सदा ही वीतरागस्वरूप में ही प्रतिष्ठित हैं; वह कभी भी राग-द्वेषरूप परिणमता ही नहीं।

चैतन्यसूर्य भगवान की किरणें

हे भगवान! आप धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष सर्वस्व प्रदाता हैं। जिस प्रकार सूर्य की किरण पड़ते ही कमल विकसित हो जाता है, ज़िल उठता है; उसी प्रकार आप चैतन्यसूर्य की किरणें पड़ते ही हमारा आत्मा खिल उठता है। यद्यपि ध्रुवधाम भगवान तो पर्याय में नहीं आता, तथापि उसकी शक्ति की भक्ति (प्रतीति) एवं एकाग्रता करने से शक्ति पर्याय में अभिव्यक्त हो जाती है, भगवान आत्मा निहाल हो जाता है।

काव्य ८

अगाधताब्धेः स यतः पयोधिः,
मेरोश्च, तुङ्गा प्रकृतिः स यत्र।
द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव,
व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि ॥

गहराई निधि की, ऊँचाई गिरि की, नभ थल की चौड़ाई।
वहीं-वहीं तक जहाँ-जहाँ तक, निधि आदिक दें दिखलाई ॥
किन्तु नाथ! तेरी अगाधता, और तुङ्गता, विस्तरता।
तीन भुवन के बाहिर भी है, व्याप रही हे जगतपिता! ॥

अन्वयार्थ — (अब्धेः) समुद्र की (अगाधता) गहराई (तत्र अस्ति) वहाँ है, (यतः सः पयोधिः) जहाँ वह समुद्र है। (मेरोः) सुमेरु पर्वत की (तुङ्गा प्रकृतिः) उन्नत प्रकृति अर्थात् ऊँचाई (तत्र) वहाँ है, (यत्र सः) जहाँ वह सुमेरुपर्वत है (च) और (द्यावापृथिव्योः) आकाश-पृथ्वी की (पृथुता) विशालता भी (तदैव) उसी प्रकार है अर्थात् जहाँ आकाश और पृथ्वी हैं, वहीं उनकी विशालता है परन्तु (त्वदीया अगाधता, तुङ्गा प्रकृतिः, पृथुता च) हे प्रभु! आपकी गहराई, उन्नत प्रकृति और हृदय की विशालता ने (भुवनान्तराणि) तीनों लोकों के मध्यभाग को (व्याप) व्याप्त कर लिया है।

भावार्थ — अगाधता शब्द के दो अर्थ हैं — समुद्र वगैरह में पानी की गहराई और मनुष्य हृदय में रहनेवाले धैर्य की अधिकता। 'तुङ्गा प्रकृति' शब्द भी द्व्यर्थक है — पहाड़ वगैरह की ऊँचाई और मन में दीनता का न होना। इसी तरह पृथुता, विशालता के भी दो अर्थ हैं — जमीन, आकाश वगैरह के प्रदेशों का फैलाव और मन में सबको अपनाने के भाव, सब के प्रति प्रेममयी भावना।

भगवन्! समुद्र की गम्भीरता समुद्र के ही पास है, मेरुपर्वत की ऊँचाई मेरु के ही पास है और आकाश-पृथ्वी का विस्तार भी उन्हीं के पास है; परन्तु आपकी अगाधता अर्थात् धैर्यवृत्ति, ऊँचाई अर्थात् अदैन्यवृत्ति और पृथुता अर्थात् उदारवृत्ति सारे संसार में फैली हुई है; इसलिए जो कहा करते हैं कि आपकी गम्भीरता समुद्र के समान है, उन्नत प्रकृति मेरु की तरह है और विशालता आकाश-पृथ्वी के सदृश है; वे भूल करते हैं ॥ ८ ॥

काव्य ८ पर प्रवचन

देखो! यह स्तुति अमृत की झंकार करती हुई अन्दर से उठी है। हे प्रभो! सर्वज्ञ परमात्मा!! देवाधिदेव!!! सागर की गहराई भी निश्चित प्रमाण तक ही वर्तती है और मेरुपर्वत की ऊँचाई भी अपने निश्चित प्रमाण में ही है; पृथ्वी तथा आकाश की विशालता भी जितने प्रमाण वे हैं, वहाँ तक ही है; किन्तु हे भगवान! आपकी गहराई तीन काल-तीन लोक में व्यापक है। आपके ज्ञान की व्यापकता 'आप हो' — इतने मात्र में ही नहीं, वरन् आपका ज्ञान सर्वव्यापक है। आपकी ऊँचाई, आपकी गहराई, आपकी विशालता के लिए समुद्र, पर्वत, अथवा आकाश की उपमा लागू नहीं हो सकती।

मनुष्य के हृदय में सबके प्रति प्रेमभाव, यह 'उच्चपना' है।

आपका ज्ञान सभी पदार्थों को यथावस्थितरूप से जानता है। 'वस्तु नहीं है' — ऐसा कहना ही पदार्थ के प्रति द्वेष है; नवतत्त्व, षट्द्रव्यादि सब हैं; सभी पदार्थों का ज्ञान में ज्यों का त्यों स्वीकार होना — यह आपका 'विश्वप्रेम' है। आपका ज्ञान सभी पदार्थों के अस्तित्व को जानता है — यही आपका सबके प्रति प्रेम है।

अतः हे भगवान! आप प्रेम की मूर्ति हैं। जगत के जीवों का प्रेम तो खण्ड-खण्ड है; आपका प्रेम अखण्ड है। 'है... है... है...' इस प्रकार सर्व पदार्थों में समभाव से आपका प्रेम अखण्डरूप से वर्तता है।

हे भगवान! आपकी उदारता तीन लोक में व्यापक है। इन्द्र भी आपकी उदारता का प्रशंसक है। मेरुपर्वत के साथ आपकी उन्नतता अर्थात् उदारता की तुलना करनेवाले भूल करते हैं क्योंकि मेरुपर्वत की उन्नतता और आपकी उन्नतता का कोई मेल नहीं है। आपकी विशालता की आकाश के साथ तुलना करनेवाले भी भूल करते हैं। आपकी अगाधता, उन्नतता और विशालता का किसी के साथ मेल नहीं हो सकता। इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य महाप्रभु की अगाधता अर्थात् केवलज्ञान तथा केवलदर्शन होने पर भी उसकी शक्ति कम नहीं होती। प्रभु! तेरी अगाधता का माप हो सके — ऐसा नहीं है।

निगोद के जीव को अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान रहा, तथापि शक्ति तो परिपूर्ण ही है और केवलज्ञान होने पर भी शक्ति में कमी नहीं आती। भगवान आत्मा की विशालता को तर्क से मापा जाना सम्भव नहीं है। आत्मा के आनन्द की गहराई भी अगाध है। उसे मात्र बाह्य से मानने की बात नहीं है किन्तु अन्दर से उसकी महिमा आनी चाहिए।

द्रव्यस्वभाव अनादि है और वह एकरूप ही रहा है, इस कारण वह महाप्रभु है और भगवान पर्याय में महाप्रभु हुए हैं। अनन्त ज्ञान,

अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख भगवान को प्रगट हुआ है। वह आत्मा के ध्रुवस्वभाव की अगाधता को सिद्ध करता है; अतः आत्मा देवाधिदेव है।

इस प्रकार पहिचानपूर्वक चैतन्य महाप्रभु की श्रद्धा और ज्ञान करना ही उसकी सच्ची भक्ति है। ●

भक्ति की मूसलाधार वर्षा

देखो! इस विषापहार स्तोत्र में ऋषभदेव भगवान की स्तुति चल रही है। सचमुच तो यह भगवान आत्मा की ही स्तुति है। व्यवहारभक्ति के पीछे निश्चयभक्ति परिणमनरूप से होने पर ही भगवान की उस स्तुति या भक्ति को व्यवहार कहा जा सकता है।

जिसे भगवान आत्मा की दैवी शक्तियों के श्रद्धान-ज्ञानरूप परिणमन एवं साथ ही भगवान की भक्ति का विकल्प भी प्रवर्तित है, उसके अन्तरङ्ग शुद्धि की अभिवृद्धि के साथ-साथ लोकोज्जर पुण्य भी बँधता है — ऐसी निश्चयपूर्वक व्यवहारभक्ति की यहाँ बात है, जो कि सज्यगृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा के ही सज्यकरूप से होती है।

अहो! धनञ्जय कवि तो भक्ति की मूसलाधार वर्षा करते हैं, वे तो भक्ति में ही तल्लीन हैं।

काव्य ९

तवानवस्था परमार्थतत्त्वम्,
त्वया न गीतः पुनरागमश्च ।
दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषीः,
विरुद्धवृत्तोऽपि समञ्जसस्त्वम् ॥

अनवस्था को परम तत्त्व, तुमने अपने मत में गाया ।
किन्तु बड़ा अचरज यह भगवन्, पुनरागमन न बतलाया ॥
त्यों आशा करके अदृष्ट की, तुम सुदृष्ट फल को खोते ।
यों तब चरित दिखें उलटे से, किन्तु घटित सब ही होते ॥

अन्वयार्थ — (अनवस्था) भ्रमणशीलता, परिवर्तनशीलता
(तव) आपका (परमार्थतत्त्वम्) वास्तविक सिद्धान्त है (च) और
(त्वया) आपके द्वारा (पुनरागमः न गीतः) मोक्ष से वापिस आने
का उपदेश दिया नहीं गया है तथा (त्वम्) आप (दृष्टम्) प्रत्यक्ष
इस लोक सम्बन्धी सुख (विहाय) छोड़कर (अदृष्टम्) परलोक
सम्बन्धी सुख को (ऐषीः) चाहते हैं, इस तरह (त्वम्) आप
(विरुद्धवृत्तः अपि) विपरीत प्रवृत्तियुक्त होने पर भी (समञ्जसः)
उचितता से युक्त हैं ।

भावार्थ — जब आपका सिद्धान्त है कि सब पदार्थ परिवर्तनशील

हैं, सभी में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है, तब सिद्धों में भी परिवर्तन
अवश्य होगा । किन्तु आप उनके पुनरागमन को / संसार में वापिस
आने को स्वीकार नहीं करते, यह विरुद्ध बात है । जो मनुष्य प्रत्यक्ष
-सामने रखी हुई वस्तु को छोड़कर, अप्रत्यक्ष परभव में प्राप्त होनेवाली
वस्तु के पीछे पड़ता है, लोक में वह अच्छा नहीं कहलाता परन्तु आप
वर्तमान के सुखों को छोड़कर भविष्य के सुख प्राप्त करने की इच्छा
से उद्योग करते हैं, यह भी विरुद्ध बात है । पर जब इन दोनों बातों का
तत्त्वदृष्टि से विचार करते हैं, तब वे दोनों बातें ठीक मालूम होने लगती
हैं, जिससे आपकी यह प्रवृत्ति उचित ही ठहरती है ।

यद्यपि पर्यायदृष्टि से सब पदार्थों में परिवर्तन होता है, सिद्धों
में भी होता है, तथापि द्रव्यदृष्टि से सब पदार्थ अपरिवर्तनरूप हैं ।
संसार में आने का कारण कर्मबन्ध है और वह कर्मबन्ध सिद्ध अवस्था में
जड़मूल से नष्ट हो जाता है; इसलिए सिद्ध जीव फिर कभी लौटकर संसार
में वापिस नहीं आते, यह आपका सिद्धान्त उचित ही है ।

इसी तरह आपने वर्तमान में क्षणभङ्गुर इन्द्रियजनित सुखों से मोह
छोड़ कर सच्चे आत्मसुख को प्राप्त करने का उपदेश दिया है । वह
सच्चा सुख तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि यह प्राणी
इन्द्रियजनित सुख में लगा रहता है । इसलिए प्रत्यक्ष के अल्पसुख को
छोड़कर वीतरागता प्राप्त करने से यदि परभव में सच्चा सुख प्राप्त
होता हो तो उसे कौन प्राप्त नहीं करना चाहेगा ? — इस श्लोक में
विरोधाभास अलङ्कार है ॥ ९ ॥

काव्य ९ पर प्रवचन

कविवर धनञ्जय को भक्ति की धुन चढ़ी हुई है । अरे ! आत्मा
जागृत होकर खड़ा हो जाए — ऐसी यह बात है । कवि तो पुत्र के

लक्ष्य से निरपेक्षभक्ति में ही निमग्न थे कि सहज ही पुण्योदय का ऐसा योग बना, जिसके कारण कविवर का पुत्र निर्विष होकर चैतन्य हो गया।

जैसे पर भगवान के सन्मुख देखने से बेहोश पुत्र भी चैतन्य हो जाता है; इसी तरह निज आत्मस्वरूप के सन्मुख दृष्टि करने से अनादि से मृतक हुआ (मिथ्यादृष्टि) जीव भी चैतन्य हो जाता है।

वस्तुतः बात तो यह है कि इस जीव ने न कभी सच्ची भक्ति ही की है और न भक्ति के स्वरूप का श्रवण ही किया है।

हे भगवन्! आपने वस्तु के स्वभाव को परिणमनशील प्रतिपादित किया है। एक तरफ तो आपका यह सिद्धान्त एवं दूसरी तरफ आप यह भी फरमाते हैं कि जो जीव एक बार सिद्धावस्था को प्राप्त हो चुके हैं, वे फिर से संसार में अवतरित नहीं होंगे। इस तरह आपका यह प्रतिपादन परस्पर विरुद्ध-सा प्रतीत होता है।

भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव, प्रवचनसारजी में फरमाते हैं कि एक बार सिद्धावस्था हुई — यह 'व्ययरहित उत्पाद' है अर्थात् जो सिद्धदशा प्रगट हुई है, वह अब कभी भी व्ययरूपदशा को प्राप्त होनेवाली नहीं है और न ही व्ययरूप संसारदशा फिर से उत्पन्न होनेवाली ही है।

अतः हे भगवान! जिस संसारदशा का अभाव आपको हुआ है, न तो अब कभी उसका उत्पाद ही सम्भव है और न आपको प्राप्त सिद्धदशा का व्यय ही सम्भव है — ऐसी व्ययरहित उत्पाद (सिद्धदशा की प्राप्ति) एवं उत्पादरहित व्यय (संसारदशा का अभाव) रूप दशा की प्राप्ति आपने की है; तथापि आश्चर्य है कि आप वस्तु को परिणमनशील दर्शाते हैं।

हे भगवान्! आपने इस लोक सम्बन्धी प्रत्यक्ष इन्द्रियसुखों का परित्याग कर, अप्रगट अतीन्द्रिय सुख को प्रगट किया है। तात्पर्य यह है कि आपने विद्यमान सुख का त्याग करके, अविद्यमान सुख को प्रगट किया है। हे भगवान! यद्यपि आपकी यह प्रवृत्ति उत्तम है, तथापि हमें यह प्रवृत्ति विरुद्ध-सी दिखायी देती है। इसका कारण यह है कि लोक में भी जो मनुष्य प्रत्यक्ष मौजूद वस्तु का परित्याग कर, अप्रत्यक्ष वस्तु के पीछे दौड़ता है, वह बुद्धिमान नहीं समझा जाता; इसी प्रकार आपकी प्राप्त इन्द्रिय विषयों का परित्याग कर, अतीन्द्रिय सुख की भावना की यह प्रवृत्ति लोकदृष्टि से विरुद्ध-सी दिखने पर भी सम्यक् विचार करने पर समीचीन प्रतीत होती है।

आपने तो वर्तमान के इन्द्रिय विषयसुखों का मोह त्यागकर यथार्थ आत्मिकसुख प्राप्त करने का ही उपदेश दिया है। जब तक यह जीव इन्द्रियजन्य विषयसुख में ही निमग्न रहता है, उन्हें ही भला मानता है, तब तक वह तो वास्तव में अतीन्द्रिय सुख का शत्रु ही है।

वस्तुतः तो इन्द्रियजन्य सुख रागरूप होने के कारण विषरूप ही है। यही कारण है कि आपने इन्द्रियजन्य सुखों को त्यागकर, अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त किया है।

यहाँ कविवर इन्द्रियजन्य सुख को दुखरूप-विषरूप बतलाकर अतीन्द्रिय आत्मिकसुख की भावनापूर्वक भगवान की स्तुति कर रहे हैं।

हे भगवान! आपके भक्त को भवभ्रमण की भीड़ रहे — ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यही कारण है कि मुनिवर पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार परमागम में कहा है कि 'यदि तुझे भगवान जिनेन्द्र के प्रति भक्ति नहीं है, तब तो तू भवसागर के मध्य में मगर के मुख में

स्थित है।' अर्थात् यदि तुझे भव-भय के मेटनहार भगवान के प्रति भक्ति नहीं है तो तू भवसागर में डूब जायेगा — ऐसा कहकर मुनिराजश्री ने भगवान की भक्ति का उपदेश दिया है।

यहाँ वर्णित भक्ति में निश्चय-व्यवहाररूप दोनों प्रकार की बात है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने भी रहस्यपूर्ण चिट्ठी में कहा है कि 'व्यवहारसम्यक्त्व के पीछे निश्चयसम्यक्त्व गमनरूप है, परिणमनरूप है।'

यहाँ भगवान की मात्र रागरूप भक्ति की बात नहीं है, अपितु जिसके व्यवहारभक्ति के पीछे परिणमनरूप से निश्चयभक्ति विद्यमान है, उसकी भक्ति ही सम्यक् भक्ति कही जाती है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि हे भगवान! आपने विद्यमान प्रगट इन्द्रियसुख का परित्याग कर, अप्रगट अतीन्द्रियसुख की भावना की और आत्मा में जो अनन्त आनन्द अव्यक्त था, अप्रगट था, उसे आपने प्रगट कर लिया। इस प्रकार आपने सांसारिक सुख की परवाह न करते हुए उसका परित्याग कर दिया।

भगवान आत्मा का आनन्द तो अप्रगट है, दिखलायी नहीं देता; आप उसे प्रगट करके अनन्त अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप में एकाकार हुए; अतः आप ही 'पुरुषोत्तम पुरुष' हैं। ●



काव्य १०

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्,
उद्धूलितात्मा यदि नाम शम्भुः।
अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः,
किं गृह्यते येन भवानजागः ॥

काम जलाया तुमने स्वामी, इसीलिए यह उसकी धूल।
शम्भु रमाई निज शरीर में, होय अधीर मोह में भूल ॥
विष्णु परिग्रहयुत सोते हैं, लूटे उन्हें इसी से काम।
तुम निर्ग्रन्थ जागते रहते, तुमसे क्या छीने वह वाम ॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (भवता एव) आपके द्वारा ही (स्मरः) काम (सुदग्धः) अच्छी तरह भस्म किया गया है। (यदि नाम शम्भुः) यदि कहें कि महादेव ने भी तो भस्म किया था तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि बाद में वह (तस्मिन्) उस काम के विषय में (उद्धूलितात्मा) कलङ्कित हो गया था और (विष्णु अपि) विष्णु ने भी (वृन्दोपहतः सन्) वृन्दा-लक्ष्मी नामक स्त्री से प्रेरित होकर उसके साथ (अशेत) शयन किया था, (येन) लेकिन (भवान् अजाग) आप जागृत रहे हो अर्थात् कामनिद्रा में अचेत नहीं हुए, इसलिए (किं गृह्यते) कामदेव के द्वारा आपकी कौनसी वस्तु ग्रहण की जाती है अर्थात् कोई भी नहीं।

भावार्थ — हे भगवन्! जगद्विजयी काम को आपने ही भस्म किया था। लोग जो कहा करते हैं कि महादेव ने भस्म किया था, वह ठीक नहीं है क्योंकि बाद में महादेव ने पार्वती की तपस्या से प्रसन्न हो उसके साथ विवाह कर लिया था और काम में इतने आसक्त हुए कि अपना आधा शरीर स्त्रीरूप कर लिया था। इसी तरह विष्णु ने भी वृन्दा-लक्ष्मी के वशीभूत होकर तरह-तरह की काम चेष्टाएँ की थीं, पर आप हमेशा से आत्मव्रत में लीन रहे तथा काम को इस तरह पछाड़ा कि वह पनप नहीं सका ॥ १० ॥

काव्य १० पर प्रवचन

परमपूज्य आचार्य मानतुङ्ग ने भक्तामरस्तोत्र में कहा है कि हे भगवान! यह अच्छा ही हुआ जो मैंने अन्य देवों को पहले से ही देख लिया क्योंकि अब आपको देखने के पश्चात् मुझे अन्य देवों को देखने की इच्छा ही नहीं होती। जो बात आप बताते हैं, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। आपके स्वरूप का परिज्ञान होने पर अब मुझे अन्यत्र कहीं देखने की इच्छा नहीं रही।

देखो! इस जीव ने पूर्वकाल में सच्चे देव की पहिचान भी नहीं की है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि भगवान! मैं बहुत भूल गया, मैंने कभी भी आपके द्वारा कथित तत्त्व का विचार ही नहीं किया। एक सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में जिसकी सम्पूर्ण सम्पदा विकसित हो गयी है — ऐसे सर्वज्ञपद की महिमा का क्या कहना? कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने श्रीप्रवचनसार गाथा ३८ में कहा है कि जो ज्ञान एक समय में तीन काल एवं तीन लोक का ज्ञान न करे, तो किस प्रकार वह दिव्य कहला सकता है?

केवलज्ञान एक समय में तीन लोक एवं तीन काल को पृथक्

—पृथक् रूप से यथावस्थितपने जानता है। तीन लोक एवं तीन काल में सर्वज्ञ की आज्ञा के बाहर कुछ भी नहीं होता अर्थात् सर्वज्ञ प्रभु सर्वस्व जानते हैं — ऐसा सर्वज्ञपद जिसके ज्ञान में, जिसके भान में एवं जिसके हृदय में विराजमान है, वह सर्वज्ञपद का अभिलाषी अल्पकाल में ही सर्वज्ञपद को प्राप्त करता है। सर्वज्ञपद की पहिचान, मात्र कथन की वस्तु नहीं है किन्तु यह बात उसके ज्ञान में जमना चाहिए।

श्रीप्रवचनसार में कहा है कि प्रभो! वन्दन करनेवाला 'मैं कौन हूँ?' और वन्दनयोग्य 'आप कौन हैं?' — दोनों का मुझे विवेक है। हे प्रभो! मैं तो ज्ञान-दर्शन सम्पन्न आत्मा हूँ और आप ज्ञान-दर्शन की परिपूर्ण पर्यायरूप परिणत आत्मा हैं। मैं पर्याय में क्षयोपशमरूप अल्प ज्ञान-दर्शन को प्राप्त आत्मा हूँ और आप पर्याय में क्षायिकभावरूप परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन को प्राप्त आत्मा हैं; अतः मैं भी परिपूर्ण ज्ञान - दर्शन की अभिलाषापूर्वक, परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन प्राप्त आपको नमस्कार करता हूँ।

हे प्रभो! इस जगत में आपके समान अन्य कोई देव नहीं है। इस प्रकार पहिचानपूर्वक मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

हे जिनेन्द्र! आपने कामदेव को भस्म कर दिया है अर्थात् समस्त इच्छाओं का आपने मूल से ही नाश कर दिया है। आपने काम को जलाकर भस्म किया; अतः वह भस्म महादेव ने अपने सिर में लगाई है अर्थात् अन्य देव तो स्त्री आदि परिग्रहयुक्त हैं।

वास्तव में महादेव तो आप हैं। आपने काम को जलाकर भस्म किया; इस कारण देवों ने आपके ऊपर पुष्पवृष्टि की थी।

हे भगवान! आपको सम्पूर्ण इच्छाओं का अभाव हो गया होने से आप 'निर्ग्रन्थ' हैं।

हे प्रभो! आपने शासन की स्थापना की है। प्रतिदिन चार बार छह-छह घड़ी आपकी दिव्यध्वनि खिरती है किन्तु उस शासन का क्या फल आया? — यह आपने नहीं देखा अर्थात् आपके इच्छा का सर्वथा अभाव हो गया है; अतः शासन का क्या हुआ? ऐसा विकल्प भी आपको उत्पन्न नहीं हुआ।

हे प्रभो! आपने जगविजयी काम को इस प्रकार पराजित किया कि वह फिर से उठ ही नहीं सका। आपने काम को ऐसा पछाड़ा कि उसमें फिर से उठने की शक्ति ही नहीं रही। जैसे श्रीकृष्ण द्वारा पछाड़ा गया कंस फिर उठने की शक्ति से विहीन हो गया; इसी प्रकार आपने काम अर्थात् इच्छा-राग का ऐसा नाश किया कि अब आपको फिर से कभी राग होगा ही नहीं।

श्रीसमयसार के संवर अधिकार में कहा है कि आस्रवरूपी योद्धा को बहुत घमण्ड हो गया था कि मैंने सम्पूर्ण जगत् पर विजय प्राप्त कर ली है। द्रव्यलिङ्गधारी बड़े-बड़े मुनिराज, जो कि नोवें ग्रैवेयक तक जानेवाले हैं, उन्हें भी राग में लाभ मनवा-मनवाकर मैंने पराजित कर दिया — इस प्रकार आस्रवरूपी योद्धा अत्यन्त गर्वित हो गया था। उसे भी संवर ने पछाड़कर उसका नाश कर दिया।

हे भगवान! इसी प्रकार आप जगत विजयी के विजेता हैं; अतः जगत में आपके समान अन्य कोई देव ही नहीं है।

हे प्रभु! आपने ही संवर-निर्जरा के पथ का दिग्दर्शन कराया है तथा आप स्वरूप में एकाकार होकर उसी में लीन रहते हैं; अतः मैं भली प्रकार से यह जानता हूँ कि आप ही वीतराग हैं और आप ही सर्वज्ञ हैं; आपके अतिरिक्त अन्य कोई देव, सर्वज्ञ एवं वीतराग नहीं है। ●

काव्य ११

स नीरजाः स्यादपरोऽघवान्वा,
तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम्।
स्वतोम्बुराशोर्महिमा न देव!
स्तोकापवादेन जलाशयस्य ॥

और देव हों चाहे जैसे, पापसहित अथवा निष्पाप। उनके दोष दिखाने से ही, गुणी कहे नहीं जाते आप ॥ जैसे स्वयं सरितपति की अति, महिमा बड़ी दिखाती है। जलाशयों के लघु कहने से, वह न कही बढ़ जाती है ॥

अन्वयार्थ — (वा) अथवा (देव) हे देव! (स) वह ब्रह्मादि देवों का समूह (नीरजाः) पापरहित (स्यात्) हो और (अपरः) दूसरा देव (अघवान् स्यात्) पापसहित हो, इस तरह (तद्दोषकीर्त्या एव) उनके दोषों के वर्णन करनेमात्र से ही (ते) आपका (गुणित्वम् न) गुणीपना नहीं है। (अम्बुराशेः) समुद्र की (महिमा) महिमा (स्वतः 'स्यात्') स्वभाव से ही होती है; (जलाशयस्य स्तोकापवादेन न) 'यह छोटा है' — इस तरह तालाब आदि की निन्दा करने से नहीं होती।

भावार्थ — हे भगवन्! दूसरे के दोष बतलाकर हम आपका गुणीपना सिद्ध नहीं करना चाहते क्योंकि आप स्वभाव से ही गुणी हैं।

सरोवर को छोटा कह देनेमात्र से समुद्र की विशालता सिद्ध नहीं होती किन्तु विशालता उसका स्वभाव है; इसलिए वह विशाल-बड़ा कहलाता है ॥ ११ ॥

काव्य ११ पर प्रवचन

मानो सामने ही भगवान खड़े हों और उनका कन्धा पकड़कर बात करते हों — इस प्रकार यह स्तुति की गयी है।

आचार्य समन्तभद्र ने भी इसी प्रकार स्तुति की है कि मानो भगवान गिरि-गुफा में से बाहर निकल रहे हैं और स्वयं ने भगवान का कन्धा पकड़ रखा है कि हे भगवान! खड़े रहो! मैं अन्य की तरह आपकी स्तुति करनेवाला नहीं हूँ; परीक्षा द्वारा आपको पहिचानकर ही आपकी स्तुति करनेवाला हूँ।

हे प्रभु! अन्य देव पापसहित हों, अथवा पापरहित; उनके दोष-वर्णन से आपकी गुणयुक्तता नहीं है; आप तो स्वभाव से ही महिमायोग्य हैं। सागर की विशालता-अगाधता स्वभाव से ही है, न कि तालाब एवं कुआँ की लघुता वर्णन के कारण। सागर तो स्वभाव से ही विशाल एवं अगाध है।

आपने अचिन्त्य गुणनिधान को प्रकट किया है; अतः आपकी महिमा स्वाभाविक ही है। यह आत्मा भी सर्वज्ञ स्वभाव से परिपूर्ण है; इस कारण इसकी पर्याय वृद्धि-इत होकर केवलज्ञानरूप होती है। यह इसकी स्वाभाविक महिमा है। दूसरों के साथ तुलना करने से चैतन्यस्वभाव का माप नहीं होता। देखो! यह देव की भक्ति चल रही है। वस्तुतः सम्यग्दृष्टि ही भक्तराज है; अन्य कोई भगवान का यथार्थ भक्त हो ही नहीं सकता।

हे भगवान! हम दूसरों के दोष बतलाकर, आपके गुण सिद्ध

नहीं करना चाहते क्योंकि आप तो सभी से निरपेक्ष हैं। जब विकारी पर्याय का होना भी निरपेक्ष है, तब स्वभाव की निरपेक्षता का तो कहना ही क्या?

हे भगवान! आपको प्राप्त सुख के एक अंश की अपेक्षा, इन्द्र का सुख भी तृणसदृश तुच्छ ज्ञात होता है। जब आपके सुख के एक अंश की भी इतनी महिमा है, तब आपके अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्यादि स्वभाविक दशाओं का तो कहना ही क्या?

तात्पर्य यह है कि आपकी महिमा तो पर से अत्यन्त निरपेक्ष स्वाभाविक ही है। ●

परिपूर्ण स्वभाव का साक्षात्कार

हे भगवान ! जिस प्रकार छोटे से झरोखे से भी बहुत कुछ देखा जा सकता है, अथवा आँख छोटी होने पर भी बड़े-बड़े हाथियों को देख लेती है; इसी प्रकार मेरा ज्ञान भले ही अल्प है, तथापि उस अल्पज्ञान द्वारा ही मैं आप जैसे सर्वज्ञ की स्तुति करूँगा।

यद्यपि मेरा ज्ञान अल्प है, मति-श्रुतरूप है; तथापि इसके द्वारा मैं अपने परिपूर्ण स्वभाव को देखूँगा, साक्षात्कार करूँगा। जैसे, छोटे से छिद्र में हाथी दिखता है; उसी प्रकार अल्पज्ञान में भी अनन्त शक्तिसज्पन्न सज्पूर्ण आत्मा दिखता है, अनुभव में आता है।

काव्य १२

कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिं,
नयत्यमुं सा च परस्परस्य ।
त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ,
जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः ॥

कर्मस्थिति को जीव निरन्तर, विविध थलों में पहुँचाता ।
और कर्म इन जग जीवों को, सब गतियों में ले जाता ॥
यों नौका-नाविक के जैसे, इस गहरे भवसागर में ।
जीव-कर्म के नेता हो प्रभु, पार करो कर कृपा हमें ॥

अन्वयार्थ — (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्रदेव ! (जन्तुः) जीव (कर्मस्थितिम्) कर्मों की स्थिति को (अनेकभूमिम्) अनेक जगह (नयति) ले जाता है (च) और (सा) वह कर्मों की स्थिति (अमुम्) उस जीव को (अनेक-भूमिम्) अनेक जगह ले जाती है, लेकिन (त्वम्) आपने (भवाब्धौ) संसाररूप समुद्र में (नौनाविकयोः इव) नाव और खेवटिया की तरह (तयोः) उन दोनों में (हि) निश्चय से (परस्परस्य) एक दूसरे का (नेतृभावम्) नेतृत्व (आख्यः) कहा है ।

भावार्थ — सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है कि जीव अपने भले-

बुरे भावों से जिन कर्मों को बाँधता है, वे कर्म तब तक उसका साथ नहीं छोड़ते, जब तक वे फल देकर खिर नहीं जाते । इस बीच में जीव जन्म-मरणकर अनेक स्थानों में पैदा हो जाता है । इसी अपेक्षा से कहा गया है कि जीव, कर्मों को अनेक जगह ले जाता है और जीव का जन्म-मरणकर जहाँ-तहाँ पैदा होना, आयु आदि कर्मों की सहायता के बिना नहीं होता । इसलिए कहा गया है कि कर्म भी जीव को चारों गतियों में जहाँ-तहाँ ले जाते हैं । हे भगवन् ! आपने इन दोनों में परस्पर का नेतृत्व उस तरह कहा है, जिस तरह कि समुद्र में पड़े हुए जहाज और खेवटिया में हुआ करता है ॥ १२ ॥

काव्य १२ पर प्रवचन

जिस प्रकार नाविक, नाव को तथा नाव, नाविक को समुद्र में ले जाते हैं; इसी प्रकार संसार-सागर में जीव अपने परिणामों के निमित्त से बँधे हुए कर्मों को, जहाँ-जहाँ वह स्वयं जाता है, वहाँ-वहाँ उन्हें भी साथ ही ले जाता है तथा उन आयु आदि कर्मों के निमित्त से जीव भी चार गति में जाता है ।

इस प्रकार दोनों का परस्पर एक-दूसरे के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; अतः हे भगवान ! आपने जीव और कर्मों का परस्पर नेतृत्व प्रतिपादित किया है ।

‘कर्म, जीव को चतुर्गति में ले जाते हैं’ — यह कथन जीव एवं कर्म के बीच परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टि से किया जा रहा है किन्तु ज्ञाता-दृष्टा जीवस्वभाव की दृष्टि से तो जीव का गतियों में आना-जाना ही नहीं । जीवस्वभाव तो अनादि संसार में वैसा का वैसा ही रहा है । जैसे चलती हुई घड़ी के झूलते हुए घन्टे पर कोई मक्खी बैठी है तो घन्टे के घूमते समय ऐसा लगता है कि मक्खी भी

घूम रही है किन्तु उस समय वस्तुतः मक्खी तो जहाँ है, वहीं है; फिरनेवाला तो घड़ी का घन्टा है, मक्खी नहीं।

इसी प्रकार निमित्त - नैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टि से ऐसा कहा जाता है कि 'कर्म, जीव को गतियों में ले जाते हैं और जीव, कर्म का बन्धन करता है' किन्तु जीवस्वभाव की दृष्टि से विचार किया जाए तो जीव तो सदा से ही ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप — जैसा है, वैसा ही रहा है; जीवस्वभाव में चतुर्गति परिभ्रमण है ही नहीं।

हे भगवान! यद्यपि आपने जीव और कर्म के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरूप व्यवहार बतलाया है, तथापि आप तो इस व्यवहार से अतीत हैं। अब आपका कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं रहा।

अरे! चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से तो मुझे भी कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरूप व्यवहार नहीं है। जब मैं विकल्प से भी भिन्न हूँ, तब निमित्त तो मुझसे अत्यन्त भिन्न है ही।

इस प्रकार राग और कर्म से रहित द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करना ही भगवान की स्तुति है।

आप समान न अन्य कोई

हे प्रभो! इस जगत में आपके समान अन्य कोई देव नहीं है। इस प्रकार पहिचानपूर्वक मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

हे भगवान! आपको सज्पूर्ण इच्छाओं का अभाव हो गया होने से आप 'निर्ग्रन्थ' हैं।

काव्य १३

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्,
धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकतासमूहं,
निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः ॥

गुण के लिए लोग करते हैं, अस्थि-धारणादिक बहु दोष।
धर्म हेतु पापों में पड़ते, पशु-वधादि को कह निर्दोष ॥
सुखहित निज-तन को देते हैं, गिरि-पातादि दुःख में ठेल।
यों जो तव मतबाह्य मूढ़ वे, बालू पेल निकालें तेल ॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! जिस प्रकार (बालाः) बालक, (तैलाय) तेल के लिए (सिकतासमूहम्) बालू के समूह को (निपीडयन्ति) पेलते हैं, (स्फुटम्) ठीक उसी प्रकार (अत्वदीयाः) आपके प्रतिकूल चलनेवाले पुरुष (सुखाय) सुख के लिए (दुःखानि) दुःखों को, (गुणाय) गुण के लिए (दोषान्) दोषों को और (धर्माय) धर्म के लिए (पापानि) पापों को (समाचरन्ति) समाचरित करते हैं।

भावार्थ — हे भगवन्! जो आपके शासन में नहीं चलते, उन्हें धार्मिक तत्त्वों का सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता; इसलिए वे अज्ञानियों की तरह उल्टे आचरण करते हैं।

वे किसी स्त्री, राज्य या स्वर्ग आदि को प्राप्तकर सुखी होने की इच्छा से तरह-तरह के कायक्लेशकर दुःख उठाते हैं, पर सकाम-तपस्या का कोई फल नहीं होता; इसलिए वे अन्त में भी दुःखी ही रहते हैं। 'हम में शील, शान्ति आदि गुणों का विकास हो' — ऐसी इच्छा रखते हुए भी रति-लम्पटी, क्रोधी आदि देवों की उपासना करते हैं, पर उन देवों की शीलघातक और क्रोधयुक्त क्रियाओं का उन पर बुरा असर पड़ता है, जिससे उनमें गुणों का विकास न होकर दोषों का ही विकास हो जाता है।

इसी प्रकार यज्ञादि धर्म करने की इच्छा से पशु-हिंसा आदि पाप करते हैं, जिससे उल्टा पापबन्ध ही होता है। हे प्रभो! यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उनकी क्रियाएँ उन बालकों जैसी हैं, जो तेल पाने की इच्छा से बालू के पुञ्ज को कोल्हू में पेलते हैं।

काव्य १३ पर प्रवचन

जिस प्रकार बालक अज्ञानतावश तेल प्राप्ति के अभिप्राय से बालू अर्थात् रेत को पेलता है; उसे यह ज्ञात नहीं है कि रेत में तेल नहीं होता। इसी प्रकार अज्ञानी भी राग की क्रिया करते हुए अपने को धर्म होना मानते हैं किन्तु जैसे रेत में से कभी तेल उपलब्ध नहीं होता, वैसे ही राग की क्रिया से कभी धर्म नहीं होता।

श्रीरामचन्द्रजी तो महाविवेकी ज्ञानी थे। वे भी राग के वशीभूत होकर लक्ष्मण की मृतक देह को कन्धे पर लेकर छह माह तक घूमते रहे — ऐसी दशा में उनके मित्र देव ने उन्हें समझाने के उद्देश्य से रेत में से तैल निकालने के लिए रेत पेलने का दृश्य उपस्थित किया।

यह देखकर रामचन्द्रजी कहने लगे कि 'अरे मूढ़! यह तू क्या कर रहा है?' तब देव ने उनसे कहा कि 'आप क्या कर रहे हैं? क्या मरे हुए भी फिर से जीवित होते हैं?'

तत्पश्चात् देव ने अग्नि में कमल उगाने का दृश्य प्रस्तुत किया, जिसे देखकर रामचन्द्रजी कहने लगे कि 'अरे मूर्ख! अग्नि में कमल की उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है। यह तू क्या कर रहा है?'

इस प्रकार देव द्वारा अनेक प्रकार से समझाये जाने पर रामचन्द्रजी के ख्याल में आया कि 'अरे! मैं रागवश भूल कर रहा हूँ' — ऐसा विचार करके उन्होंने लक्ष्मण का अन्तिम संस्कार किया।

हे भगवान! आपके स्वरूप से अपरिचित अज्ञानी जीव सुख-प्राप्ति की आकाँक्षा से, आत्मभान के बिना अनेक प्रकार के काय-क्लेशादि कष्टों को सहन करते हैं और धर्म के लिए पशुवध इत्यादि अनेक पाप क्रियाएँ करते हैं किन्तु प्रभु! अज्ञानियों के ये सभी कार्य बालू में से तेल निकालने के प्रयत्न सदृश मूर्खता से युक्त हैं। वे तो दोष का सेवन करते हुए भी गुण, सुख या धर्म प्रगट करना चाहते हैं किन्तु उनके ये सभी प्रयत्न मिथ्या हैं, निष्फल हैं।

वस्तुतः पुण्य-पाप दोनों ही आत्मा के घातक हैं। जो जीव इन आत्मघाती परिणामी के सेवन से धर्म प्राप्त करना चाहते हैं, वे उस बालक के समान विमूढ़ हैं, जो रेत को पेलकर उसमें से तेल की प्राप्ति करना चाहता है।

श्रीपरमात्मप्रकाश में आता है कि रामचन्द्रजी इत्यादि धर्मात्मा गृहस्थाश्रम में वस्तु-स्तवन करते थे। भले ही विकल्प था किन्तु गीत वस्तुस्वभाव के गाते थे। जितना विकल्प था, उतना लोकोत्तर पुण्यबन्ध होता था और जितनी एकाग्रता है, उतनी गुणस्तुति है। इस प्रकार धर्मात्मा गृहस्थावस्था में भी वस्तु-स्तवन एवं बाह्य में भगवद्भक्ति करते हैं।

हे भगवान! जो आपके शासन का आश्रय ग्रहण नहीं करते, उन्हें न तो संवर-निर्जरा का भान होता है और न धर्म का। इस कारण वे धर्म

के लिए अनेक प्रकार के काय-क्लेशादि करते हैं और उसके फल में सांसारिक सुख की अभिलाषा करते हैं। प्रभु! यह सब उनकी बालचेष्टा है। जङ्गल में जैसे पशु बसते हैं; वैसे ही आत्मभान के बिना जङ्गलवासी भी पशुसमान ही हैं। वे तो मोह का ही भजन कर रहे हैं; हे प्रभु! आपको या वीतरागता को तो वे भजते ही नहीं।

जो जीव, रति-लम्पटी, रागी और क्रोधी देवों की सेवा से धर्म और सुखाभिलाषा करते हैं, वे वस्तुतः उन रागी-द्वेषी देवों की सेवा से राग-द्वेष का ही अनुमोदन करते हैं। रागी-द्वेषी देवों के प्रशंसक वस्तुतः राग-द्वेष के ही प्रशंसक हैं — ऐसे जीवों के गुणों का विकास कदापि नहीं होता। जो स्वयं गुणविहीन हैं — ऐसे देवों की श्रद्धा-भक्ति करनेवालों के गुणों का विकास कैसे सम्भव है? उनके तो गुण के बहाने, दोषों का ही पोषण हो रहा है। ●

सज्यक् भक्ति का स्वरूप

वस्तुतः बात तो यह है कि इस जीव ने न कभी सच्ची भक्ति ही की है और न भक्ति के स्वरूप का श्रवण ही किया है।

यहाँ भगवान की मात्र रागरूप भक्ति की बात नहीं है, अपितु जिसके व्यवहारभक्ति के पीछे परिणामरूप से निश्चयभक्ति विद्यमान है, उसकी भक्ति ही सज्यक् भक्ति कही जाती है।

हे भगवान! आपके भक्त को भवभ्रमण की भीड़ रहे — ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यही कारण है कि मुनिवर पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार परमागम में कहा है कि 'यदि तुझे भगवान जिनेन्द्र के प्रति भक्ति नहीं है, तब तो तू भवसागर के मध्य में मगर के मुख में स्थित है।'

काव्य १४

विषापहारं मणिमौषधानि,
मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति
पर्यायनामानि तवैव तानि ॥

विषहारक मणि नाथ तुम्ही हो, तुम ही हो परमौषधि रूप।
तुम ही मन्त्र रसायन भी तुम, तुम ही यन्त्र तन्त्र गुण भूप ॥
तुम्हें छोड़कर इन्हें ढूँढते, फिरें वृथा गोते खाते।
नाम तुम्हारे मणि-मन्त्रादिक, अविवेकी समझ नहीं पाते ॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (अहो) आश्चर्य है कि लोग (विषापहारम्) विष को दूर करनेवाले (मणिम्) मणि को, (औषधानि) औषधियों को, (मन्त्रम्) मन्त्र को (च) और रसायन को (समुद्दिश्य) उद्देश्य करके (भ्राम्यन्ति) यहाँ-वहाँ घूमते हैं किन्तु (त्वम्) आप ही मणि हैं, औषधि हैं, मन्त्र हैं और रसायन हैं (इति) — ऐसा (स्मरन्ति) स्मरण नहीं करते क्योंकि (तानि) वे मणि आदि (तव एव) आपके ही (पर्यायनामानि) पर्यायवाची शब्द हैं।

भावार्थ — हे भगवन्! जो मनुष्य शुद्ध हृदय से आपका स्मरण

करते हैं, उनके विष वगैरह का विकार अपने आप दूर हो जाता है ॥ १४ ॥

कहा जाता है कि एक समय स्तोत्र के रचयिता कविवर धनञ्जय मन्दिर में बैठकर स्तुति पाठ की रचना कर रहे थे; उसी समय उनके पुत्र को सर्प ने डस लिया, तब उनकी पत्नि ने उन्हें मन्दिर से बुलवाया परन्तु वे पूजन-स्तवन छोड़कर नहीं आये तो उनकी पत्नि को अत्यन्त क्रोध आया और क्रोधावेश में वह पुत्र को मन्दिर में डालकर जाने लगी, उसी समय सहज ही कवि ने 'विषापहारं मणिमौषधानि आदि' श्लोक की रचना की तो तत्काल उनका पुत्र पुण्य-योग से एवं जिनेन्द्रभक्ति के प्रभाव से उठकर बैठ गया और उसका विष-विकार बिलकुल दूर हो गया।

इस श्लोक में **विषापहार** शब्द का प्रयोग हुआ है - यही कारण है कि इस स्तोत्र का नाम **विषापहार स्तोत्र** प्रचलित हुआ।

काव्य १४ पर प्रवचन

देखो! इस स्तोत्र का नाम विषापहार है। यह नाम इस श्लोक में आया है। भगवान के सम्मुख भक्तिनिमग्न कवि धनञ्जय जब यह श्लोक रचते हुए पाठ करते थे, तभी उनके पुत्र का विष उतर गया और वह निर्विष होकर बैठ गया; इसी कारण यह स्तोत्र विषापहार के नाम से विख्यात हो गया।

भक्तामरस्तोत्र में भी ऐसा आता है कि हे भगवान! आपका भक्त ऐसे भयङ्कर युद्ध में भी विजयी होकर आता है, जहाँ नदियों की भाँति हाथियों का रक्त बहता है और सिंह के पैर के मध्य स्थित जीव भी आपकी भक्ति से बच जाता है। जलन्धर जैसे दुष्कर रोगों का भी अभाव आपके भक्त के हो जाता है। प्रभु! आपकी भक्ति की कोई अचिन्त्य महिमा है।

अरिहन्त अर्थात् विकाररूपी शत्रु को जीतनेवाला — ऐसा आत्मा स्वयं ही अरिहन्त है, आत्मा ही सिद्ध है, आत्मा ही पुराणपुरुष है। अज्ञानी अनादि से पर को अपना मानकर मर रहा है। जहाँ अन्तर में निज चैतन्यप्रभु का भान हुआ, वहाँ मिथ्यात्वरूपी विष उतर जाता है और आत्मा जागृत हो जाता है; यही वास्तव में विषापहारस्तोत्र है।

आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग द्वेषरूप विकृतपरिणाम ही वस्तुतः जलन्धर रोग है। चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होने पर राग-द्वेषरूपी जलन्धर रोग का अभाव हो जाता है।

एक कथानक आता है कि एक राजकुमार संन्यासी होकर तपश्चर्या करके सिद्धरस प्रगट करता है और उससे लोहे का सोना बनाता है। उसके बड़े भ्राता जो भावलिङ्गी मुनीश्वर थे, उन्हें दरिद्री समझकर, वह संन्यासी उनके पास जाकर, उन्हें एक घड़ा सिद्धरस का समर्पित करता है और वे मुनिराज उस मटके को जमीन पर फेंक देते हैं एवं अपने संन्यासी भ्राता से कहते हैं कि 'अरे! क्या तू सुवर्ण की प्राप्ति के लिए ही त्यागी हुआ है? धिक्कार है तुझे! सारी शिला सुवर्णमय हो जाए — ऐसी ऋद्धि तो मेरे पैर की धूल में ही है किन्तु क्या हम सुवर्ण के लिए त्यागी हुए हैं?' — इस प्रकार वे अपने भ्राता को सम्बोधित करते हैं।

इसी प्रकार अज्ञानीजन कहते हैं कि हम धर्म करेंगे और उसके फल में स्वर्ग प्राप्त करेंगे। उन अज्ञानियों को सम्बोधित करते हुए ज्ञानी कहते हैं कि 'अरे! क्या तुम स्वर्ग के लिए धर्म करोगे? धिक्कार है तुम्हें! अरे! आत्मा की समीपता में जानेवाले ज्ञानियों को तो सहज ही उत्कृष्ट पुण्यबन्ध हो जाता है। जिसके फल में वे स्वर्ग की प्राप्ति भी करते हैं किन्तु उन धर्मात्मा पुरुषों को स्वर्ग की अभिलाषा नहीं होती।'।

धनञ्जय कवि तो इस श्लोक में कहते हैं कि हे भगवान! आप

ही मणि हो, आप ही मन्त्र हो, आप ही रसायन हो और कल्पवृक्षादि सर्वस्व भी आप ही हो क्योंकि ये मणि-मन्त्रादि आप ही के पर्यायवाची नाम हैं।

हे प्रभु! जन्म-मरणरूपी रोग का नाश करने के लिए आप ही हमारे सर्वस्व हैं। यद्यपि आप तो वीतराग हैं, तथापि जिसके ज्ञान में आपकी वीतरागता बैठ जाती है, जम जाती है, उसे निज वीतराग स्वभाव ही वास्तव में प्रतीति में आता है। जिसके कारण उसे जन्म-मरण होते ही नहीं।

इन्द्र भी दासानुदास होकर जिनकी सेवा करते हैं — ऐसे परमात्मा की पहिचानपूर्वक उनकी भक्ति करनेवाले की अन्तःपरिणति तो शुद्ध होती ही है, बाह्य प्रतिकूल संयोग भी छूट जाते हैं।

कविवर धनञ्जय भगवद्भक्ति में मस्त हैं, उन्हें वीतरागता की धुन लगी है और इधर बाह्य में उनके पुत्र का विष उतर जाता है। यही कारण है कि यह स्तोत्र भी 'विषापहार स्तोत्र' के नाम से सुविख्यात हो गया है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि जिसे धर्म करना हो उसे, जिन्हें सच्चा धर्म प्रगट हो गया है, ऐसे देव की पहिचान बिना धर्म नहीं हो सकता।

अरिहन्तदेव कौन हैं? उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का क्या लक्षण है? — यह जानना सर्व प्रथम आवश्यक है क्योंकि जो जीव अरिहन्त को जीवगत लक्षणों से पहिचानता है, वह अन्तर में निजात्मा की पहिचान किये बिना रह ही नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि उसे अवश्य ही निजात्मा की पहिचान होती है किन्तु इस जीव ने अनन्त काल में एक सैकेण्ड के लिए भी अरहन्त के स्वरूप की पहिचान नहीं की है।

प्रश्न — हम तो प्रतिदिन भगवान के दर्शन करते हैं न?

उत्तर — अज्ञानी सचमुच तो राग के ही दर्शन करता है, भगवान के नहीं; क्योंकि अरिहन्त भगवान कौन है? उनकी अन्तर में कैसी दिव्यशक्ति है, जिसे प्रगट करके वे पर्याय में सदा टिकनेवाली पूर्णता को प्राप्त हुए हैं? — इस प्रकार पहिचाननेवाले ने ही अरिहन्त को पहिचाना है और उसे अवश्य ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

वीतरागी की आत्मा को पहिचाननेवाला यह भी जानता है कि मेरी जाति भी ऐसी ही है। शक्तिरूप से मेरा आत्मा भी अरिहन्त भगवान के समान ही है। जिस प्रकार अशुद्ध सुवर्ण भी कालिमा नष्ट होने पर सोलहवान शुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार संसारी जीव भी राग-द्वेष दूर होने पर परमात्मा हो जाता है। इस प्रकार अरिहन्त के स्वरूप को जानकर, जो जीव निजात्मा को भी शक्तिरूप से अरिहन्त समान देखता है, उसे ही भगवान की सच्ची भक्ति होती है।

नमस्कारमन्त्र के नौ लाख जाप करे, तथापि वह राग है; धर्म नहीं है। इस जीव ने अज्ञानावस्था में अनन्त बार द्रव्यलिङ्गी मुनि होकर नौवें प्रैवेयक में जन्म लिया है। एक भव में कोटिपूर्व की आयु हो एवं आठ वर्ष की उम्र में दीक्षा अङ्गीकार करके कोटिपूर्व तक प्रातः एवं सायंकाल प्रतिक्रमण के समय इसने णमोकारमन्त्र के जप किये; इस प्रकार एक भव में अरबों बार नमस्कारमन्त्र के जप किये और इस प्रकार अनन्त भवों में अनन्त बार अरबों नमस्कारमन्त्र के जप किये किन्तु इससे भी इसके भव का अन्त नहीं आया क्योंकि इसने एक बार भी नमस्कारमन्त्र का सच्चा जप किया ही नहीं।

जिन्हें नमस्कार करता है — ऐसी पञ्च परमेष्ठियों के स्वरूप की परिज्ञान बिना इसने पञ्च परमेष्ठियों को भी सच्चा नमस्कार नहीं किया। अरिहन्तपद कैसा है? आत्मपद कैसा है? उसकी अन्तर

सम्पदा कैसी है ? — इसे जो जीव पहिचानता है, उसे आत्मभान होता है, उसी ने वास्तव में भगवान को पहिचाना है, सच्चा नमस्कार किया है और भगवान की सच्ची भक्ति भी उसे ही है।

यहाँ चौदहवें श्लोक में कहा है कि हे नाथ! चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु, सिद्धरस, परमौषधि, महामन्त्रादि सबकुछ आप ही हैं क्योंकि ये सब आप ही के पर्यायवाची नाम हैं।

निश्चय से देखा जाए तो ये सभी नाम भगवान चैतन्यधातु के हैं। ध्रुव चिदानन्द आत्मा ज्ञान-आनन्दादि अनन्त-अनन्त गुणों की खान है। यह वास्तव में चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकुम्भ, सिद्धरस, महामन्त्रादि सब कुछ है। ये सब वास्तव में आत्मा को ही लागू पड़ता है। ऐसी पहिचान जिसे होती है, उसके संसार का अल्पकाल में ही अभाव हो जाता है और उसे मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है।

भगवान की भक्ति करते-करते बाहर में सर्प का विष उतर जाता है और अन्तर में स्वरूप की दृष्टि एवं माहात्म्य द्वारा आत्मावलोकन से संसाररूपी विष उतर जाता है। अल्पकाल में केवलज्ञान उत्पन्न होता है।



दर्शन प्रतिमा

जगत के अज्ञानीजन तो ऐसा मानते हैं कि प्रतिदिन भगवान के दर्शन करना ही 'दर्शनप्रतिमा' है किन्तु भाई! वस्तुतः अन्तर में निजात्मभगवान के दर्शन करना ही दर्शनप्रतिमा है।

काव्य १५

चित्ते न किञ्चित्कृतवानसि त्वम्,
देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम्।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रं,
सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः ॥ १५ ॥

हे जिनेश! तुम अपने मन में, नहीं किसी को लाते हो। पर जिस किसी भाग्यशाली के, मन में तुम आ जाते हो। वह निज-कर में कर लेता है, सकल जगत को निश्चय से। तब मन से बाहर रहकर भी, अचरज है रहता सुख से ॥

अन्वयार्थ — (देवः) हे देव! (त्वम्) आप (चित्ते) अपने हृदय में (किञ्चित्) कुछ भी (न कृतवान् असि) धारण नहीं करते हैं किन्तु (येन) जिसके द्वारा आप (चेतसि) हृदय में (कृतः) धारण किये हैं, (तेन) उसके द्वारा (सर्वम्) समस्त (जगत्) संसार (हस्ते कृतम्) हाथ में कर लिया गया है — अर्थात् उसने सब कुछ पा लिया है। लेकिन यह (विचित्रम्) आश्चर्य की बात है और आप (चित्तबाह्यः अपि) मन से रहित होते हुए भी (सुखेन जीवति) सुख से जीवित हैं, यह आश्चर्य है।

भावार्थ — यह बात प्रसिद्ध है कि यदि किसी के शरीर पर पाँच

हजार के आभूषण हैं तो वह जिस कुर्सी पर बैठेगा, उस कुर्सी पर भी पाँच हजार के आभूषण कहलाते हैं। यदि उसके शरीर पर कुछ भी नहीं है तो कुर्सी पर भी कुछ नहीं कहलाता है। लेकिन हे प्रभु! यहाँ विचित्र ही बात है क्योंकि आपके चित्त में तो कुछ भी नहीं है, पर जो मनुष्य आपको अपने चित्त में विराजमान करता है, उसके हाथ में सब कुछ आ जाता है।

इस विरोधाभास का परिहार यह है कि यद्यपि आपके पास किसी को देने के लिए कुछ भी नहीं है और रागभाव न होने से आप मन में भी ऐसा विचार नहीं करते कि मैं इस मनुष्य को यह वस्तु दूँ, फिर भी भक्त जीव अपनी शुभ भावनाओं से शुभकर्मों का बन्ध कर, उनके उदयकाल में सब कुछ पा लेते हैं।

अथवा जो यथार्थ में आपको अपने हृदय में धारण कर लेता है, वह आपके समान ही निःस्पृह हो जाता है, उसकी सब इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं। वह सोचता है कि 'मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। मैं आज आपको अपने चित्त में धारण कर सका तो मानों तीन लोक की सम्पत्ति मेरे हाथ में आ गयी।'।

दूसरा विरोधाभास यह है कि आप चित्त-चेतन से बाह्य होकर भी जीवित रहते हैं। लोक में जो चेतन से रहित हो जाता है, वह मृत कहलाने लगता है, लेकिन यहाँ उससे विरुद्ध बात है। इस विरोधाभास का परिहार यह है कि आप चित्त-बाह्य अर्थात् आप मन से चिन्तवन नहीं करते, फिर भी आप अनन्त सुख से हमेशा जीवित रहते हैं, आप अजर-अमर हैं। तात्पर्य यह है कि आपमें अनन्त सुख है तथा आप इतने अधिक प्रभावशाली हैं कि आपको मन के माध्यम से चिन्तवन नहीं करना पड़ता।

काव्य १५ पर प्रवचन

हे अरिहन्त परमात्मा! आप तो अपने हृदय में किसी को भी नहीं रखते हैं किन्तु जो भक्त अपने चित्त में आपको धारण करता है, अर्थात् जिसके ज्ञान में आप बस जाते हैं; 'अरिहन्त पद ऐसा है' — ऐसा जिसने अपने ज्ञान में निर्णय किया है, उसने तीन लोक को प्राप्त कर लिया है।

तीन लोक एवं तीन काल के ज्ञाता अरहन्त परमात्मा, जिस भाग्यवन्त के प्रतीति एवं ज्ञान में आये, वास्तव में उसे तो सम्पूर्ण तीन लोक ही हस्तगत हो गया है। जिसके हृदय में परमात्मा विराजमान हैं, ज्ञान में भगवान विराजमान हैं, उसका ज्ञान अब अल्पज्ञ नहीं रह सकता अर्थात् वह जीव तो अल्पकाल में ही परमात्मा हो जायेगा। साथ ही परमात्मा की भक्ति के फलस्वरूप बँधे पुण्य से त्रिलोक की सर्व सम्पत्ति उसे प्राप्त होती है।

हे भगवान! आप अपने हृदय में किसी भी वस्तु को धारण नहीं करते, तथापि जो भव्य जीव आपको अपने हृदय में धारण करता है, उसे त्रिलोक की सर्व सम्पत्ति सहज उपलब्ध हो जाती है — यह देखकर हमें तो आश्चर्य होता है क्योंकि लोक में कोई व्यक्ति कुर्सी पर पाँच हजार के गहने पहनकर बैठा हो तो 'कुर्सी ने पाँच हजार के गहने पहने' तथा निर्धन मनुष्य कुर्सी पर बैठा हो तो 'कुर्सी गहनों से रहित है' — ऐसी कहावत प्रचलित है, लेकिन आपके सन्दर्भ में यह आश्चर्य है कि आपने तो किसी भी वस्तु को अवधारण नहीं किया, फिर भी जो जीव आपको धारण करता है, उसने प्राप्त करने योग्य सर्वस्व प्राप्त कर लिया है।

दूसरा आश्चर्य यह है कि आप चित्त (मन) से रहित होने पर भी

अनन्त ज्ञान-आनन्द से जीवित हैं। लोक में तो जो जीव, चित्त अर्थात् चेतन (मन) रहित हो जाता है, उसे मृतक कहा जाता है किन्तु आप तो चित्त अर्थात् मनरहित होने पर भी अनन्त सुख से जीवित हैं।

आप चित्त से रहित होने के कारण आपको चित्त द्वारा नहीं जाना जा सकता किन्तु विकल्पातीत होने पर ही आपको जाना जा सकता है। निजात्म भगवान भी चित्त-मन द्वारा नहीं जाना जा सकता, अपितु चित्तावलम्बन का परित्याग कर, विकल्पातीत होने पर ही वह अनुभव में आता है। जिसने एक को जाना, उसने सर्वस्व जान लिया अर्थात् जिसने अपने ज्ञान में तीन लोक एवं तीन काल के ज्ञाता एक भगवान को जान लिया, उसने सर्वस्व जान लिया। अवश्य ही उसके अल्पज्ञान का अभाव होकर केवलज्ञान प्रगट होगा।

लोग कहते हैं कि भगवान ने जैसा देखा होगा, उसी प्रकार सब होगा, हम क्या कर सकते हैं? भगवान ने अपने जितने भव देखे होंगे, उतने भव तो होंगे ही; किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि जिसके ज्ञान में भगवान विराजमान हैं, उसके अनन्त भव हो ही नहीं सकते। तीन लोक व तीन काल के ज्ञाता भगवान जिस भक्त के ज्ञान में विराजमान हैं, उसके भव की भीड़ होती ही नहीं। वह भक्त तो पुकार करता है कि 'मुझे अल्पकाल में ही केवलज्ञान होगा।' जिसने भगवान के अस्तित्व को स्वीकार किया है, 'जगत में सर्वज्ञ है' — इस प्रकार सर्वज्ञ के अस्तित्व का स्वीकार जिसने अपने ज्ञान में किया है, उसे अल्पकाल में केवलज्ञान होगा ही।

एकीभावस्तोत्र के सन्दर्भ में ऐसा आता है कि वादिराज मुनि को कोढ़ था। उनका एक भक्त नित्य ही राजसभा में जाता था। किसी ने ईर्ष्यावश राजा से शिकायत की कि 'इस श्रावक के गुरु कोढ़ी हैं और यह सदैव उनके समीप जाता है, वे भी नित्य ही राज्य में आते हैं; इस कारण राज्य में सभी को कोढ़ होने का खतरा है।' इतना सुनकर राजा

ने उस श्रावक से पूछा कि 'क्या तुम्हारे गुरु कोढ़ी हैं?' तब श्रावक ने भक्तिवश इस बात से इनकार कर दिया कि 'जैनमुनि कोढ़ी नहीं होता;' लेकिन सत्य वस्तु-स्थिति तो उसे पता थी; अतः चिन्ता-निमग्न होकर वह गुरु के समीप पहुँचा तथा उनके समक्ष सारी स्थिति बयान की। वादिराज मुनिराज ने श्रावक से कहा कि 'आप शान्ति रखे, सब ठीक हो जायेगा।' तत्पश्चात् मुनिवर ने एकीभावस्तोत्र की रचना की, जिसमें भगवान ऋषभदेव की स्तुति करते हुए वे कहते हैं कि 'हे भगवान! जब आप स्वर्ग से चलकर माता के गर्भ में पधारे थे, तब इन्द्र ने सम्पूर्ण नगरी की सुवर्णमयी रचना की थी, तब तो हे प्रभो! आप भी मेरे हृदय में विराजमान हैं; अतः इस देह का कोढ़ मिटकर यह देह सुवर्णमयी बन जाए, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

हे प्रभु! जब हम आपको अपने ज्ञान में विराजमान करते हैं तो वहाँ विद्यमान हमारे दुःखों को आप नहीं देख सकते अर्थात् हमारी पर्याय में संसाररूपी रोग नहीं रह सकता और शरीर में भी कोई रोग नहीं रह सकता। हे भगवान! आपको हृदय में धारण करनेवाले का आत्मा तो बदलता ही है, साथ ही शरीर भी बदल जाता है अर्थात् अनन्त काल में अप्राप्त ऐसा अलौकिक शरीर धर्मात्माओं को प्राप्त होता है। देखो! यह भगवान की भक्ति चल रही है।

हे भगवान! यद्यपि आपके पास कुछ भी नहीं है, तथापि आपके भक्त के अन्तरङ्ग में शुद्धि की धारा प्रवर्तित होती है। जिसके फलस्वरूप उसे मुक्ति की प्राप्ति होती है और बाह्य में शुभ पुण्य के कारण जगत को अलभ्य आश्चर्यकारी संयोग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार पुण्यबन्ध के फल में संयोगों की अनुकूलता एवं शुद्धि के फल में स्वभाव की अनुकूलता प्राप्त होती है।

हे प्रभु! जो जीव आपको सम्यक् प्रकार से हृदय में धारण करता है, वह जीव भी आप ही के समान निस्पृह हो जाता है। 'मुझे कुछ

नहीं चाहिए; जो कुछ चाहिए, वह सब मेरे पास ही है' — इस प्रकार उसकी समस्त इच्छाएँ शान्त हो जाती है। अरे! जिसके गृह में भगवान पधारें, उसे कौनसी इच्छा शेष रह सकती है? भगवान को आत्मा में पधरावे और अस्थिरतारूप रोग रहे — ऐसा कदापि सम्भव नहीं है।

हे भगवान! आज आपको अपने चित्त में स्थापित करके मैं ऐसा मानता हूँ कि मुझे तीन लोक की सम्पत्ति ही प्राप्त हो गई है। ●

भक्ति के फल में सिद्धावस्था

हे जिनेन्द्र! किसी भी प्रकार से की हुई भक्ति, फल प्रदान करती है, तब आपके विषय में की हुई भक्ति अर्थात् सिद्धावस्था प्राप्त आपकी भक्ति के फल में मैं भी अवश्य सिद्ध होऊँगा। जहाँ सौ बोरी अनाज पैदा होता है, वहीं साथ में सौ गाड़ी घास भी होता है; इसी प्रकार अपनी पवित्रता के फल में मैं सिद्ध होऊँ, उसके पूर्व आपकी भक्ति के फलस्वरूप बँधे हुए पुण्य के फल से मैं तीर्थङ्कर, इन्द्रादि के वैभव को प्राप्त करूँगा।

निज अन्तरस्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई पवित्रता भी पूर्णरूपेण फलेगी और आपके आश्रय से बँधा हुआ पुण्य भी पूर्णरूपेण फलेगा। प्रभु! आपकी भक्ति से ज़्यादा कमी हो सकती है? कुछ भी नहीं। आपकी भक्ति कीर्ति, धन, सज्पजि एवं विजय प्रदान कराती है। अन्तिम शब्द 'जीत' माङ्गलिक है; इसका आशय है कि हमारी जीत के नगाड़े बज गये हैं।

काव्य १६

त्रिकालतत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकी-

स्वामीति संख्यानियतेरमीषाम्।

बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यत्,

तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्यदमूनपीदम् ॥ १६ ॥

त्रिकालज्ञ त्रिजगत के स्वामी, ऐसा कहने से जिनदेव।
ज्ञान और स्वामीपन की, सीमा निश्चित होती स्वयमेव ॥
यदि इससे भी ज्यादा होती, काल जगत की गिनती और।
तो उसको भी व्यापित करते, ये तब गुण दोनों सिरमौर ॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (त्वम्) आप (त्रिकालतत्त्वम्) भूत, भविष्यत् और वर्तमान — इन तीनों कालों के पदार्थों को (अवैः) जानते हैं, तथा आप (त्रिलोकी स्वामी) ऊर्ध्व, मध्य और पाताल — इन तीनों लोकों के स्वामी हैं। (इति संख्या) इस प्रकार की संख्या (अमीषां नियतेः) उन पदार्थों के निश्चित संख्यावाले होने से (युज्यते) ठीक हो सकती है परन्तु (बोधाधिपत्यं प्रति न) ज्ञान के साम्राज्य के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की संख्या ठीक नहीं हो सकती क्योंकि (चेत्) यदि (ते अन्ये अपि अभविष्यन्) ऐसे और भी पदार्थ होते (तर्हि) तो (इदम्) ज्ञान (अमून् अपि) उन्हें भी (व्याप्यत्) व्याप्त कर लेता, जान लेता।

भावार्थ — हे प्रभो! आप तीन काल तथा तीन लोक की बात जानते हैं, इसलिए आपका ज्ञान भी उतना ही है, ऐसा नहीं है; किन्तु आपके ज्ञान का साम्राज्य सब ओर अनन्त है। जितने पदार्थ हैं, उनको तो ज्ञान जानता ही है, यदि इनके सिवाय और भी पदार्थ होते, तो ज्ञान उन्हें भी अवश्य ही जानता।

काव्य १६ पर प्रवचन

हे प्रभु! आप तीन काल तथा तीन लोक को जानते हैं, इस कारण आपका ज्ञान-सामर्थ्य, मात्र इतना ही है — ऐसा नहीं है। आपके ज्ञान में ज्ञात हो जाने से पदार्थों की सीमा तो आ जाती है किन्तु आपके ज्ञान की सीमा नहीं आती। परमात्मप्रकाश में एक दृष्टान्त है कि बाँस के मण्डप में जो बेल होती है, वह उस मण्डप के अन्तिम छोर तक ऊँची जाती है। यद्यपि बेल की शक्ति तो उससे भी आगे जाने की है।

इसी प्रकार हे नाथ! आपने तीन काल, तीन लोक के पदार्थों को जान लिया, इस कारण आपके ज्ञान की सीमा नहीं आ जाती; तीन लोक, तीन काल से भी अनन्तगुने ज्ञेय हों, तो भी उन्हें जानने की सामर्थ्य आपके ज्ञान में है। जिसे आत्मा के ज्ञान-साम्राज्य की महिमा आती है, उसे जगत के किसी पदार्थ की महिमा नहीं रहती।

केवलज्ञान की एक समय की पर्याय की कितनी सामर्थ्य है? — उसका विचार करने से विकल्प का अभाव होकर निर्विकल्पता हो जाती है। विकल्पातीत चैतन्य की अपार महिमा है। जिस ज्ञान में अपनी सामर्थ्य की प्रतीति आती है, वह ज्ञान अल्पकाल में केवलज्ञानरूप परिणत हो जाता है। वर्तमान में भले ही अल्प भावश्रुतज्ञान हो, तथापि उसकी प्रतीति में अनन्त ज्ञान का माहात्म्य स्थापित हो जाता है।

प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर भगवान का स्मरण करे किन्तु प्रथम

भगवान को द्रव्य से, गुण से और पर्याय से यथार्थरूप से जाना हो, तभी तो भगवान का सच्चा स्मरण होगा। एक बार भी भगवान की यथार्थरूप से पहिचान करके स्मरण करनेवाले को केवलज्ञान अवश्य होता है।

वर्तमान में केवलज्ञान पर्याय के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हैं — ‘केवलज्ञान छह द्रव्यों को जानता है किन्तु छद्मस्थ केवलज्ञान के विषय का निर्धार नहीं कर सकता।’ — ‘अरे भगवान! यह तू क्या कहता है? भावश्रुतज्ञान भी, केवलज्ञान कैसा है’ — यह निर्णय कर सकता है। भले ही उसकी पर्याय सीमित ज्ञानरूप है। केवलज्ञान में तीन लोक, तीन काल ज्ञात होने पर भी उसकी सामर्थ्य तो इससे भी अनन्तगुना है। अहो! इसका निर्णय करते ही ज्ञान निर्विकल्प हो जाता है।

तोता को पूरी देकर कहें कि ‘बोल तोता! रघुराम’, तो वह पूरी को ही ‘रघुराम’ समझता है, लेकिन ‘रघुराम कौन है?’ — इसकी उसे खबर नहीं है। इसी प्रकार आत्मा की सच्ची पहिचान बिना अज्ञानी ‘णमो अरिहंताणं’ रट-रटकर मर जाए, तथापि उसे रागरहित अरहन्त का सच्चा ज्ञान नहीं होता और तब तक उसका समस्त ज्ञान बोलनेमात्र है। ●

निश्चय-व्यवहार भक्ति का फल

हे भगवान आपकी भक्ति, सुख, धन, सज्जपि, विजय एवं कीर्ति इत्यादि फलप्रदायक है और निश्चय भक्ति पूर्णपद की प्राप्तिरूप फलप्रदायक है।

लगानेवाले से बहुत ऊपर है परन्तु छाता लगानेवाले को अवश्य ही छाया का सुख होता है; उसी प्रकार इन्द्र आपकी सेवा करता है, उससे इन्द्र को ही लाभ होता है क्योंकि वह अशुभास्रव से बच जाता है।

काव्य १७ पर प्रवचन

हे प्रभु! इन्द्र हमेशा आपकी सेवा करता है — इस कारण वह आप पर किसी प्रकार का उपकार नहीं करता। जैसे कोई मनुष्य सूर्य के सामने छत्र रखता है, इससे सूर्य का कोई उपकार नहीं होता, वरन् छत्र के कारण वह मनुष्य ही धूप से बच जाता है और छाया के सुख को वह प्राप्त करता है।

इसी प्रकार इन्द्र हर प्रसङ्ग में आपकी सेवा में उपस्थित होता है, इससे वह आपके ऊपर किसी प्रकार का उपकार नहीं करता, अपितु आपकी सेवा से इन्द्र को ही लाभ होता है।

आपकी सेवा से इन्द्र को शुभास्रव होता है और वह अशुभास्रवरूप आताप से बच जाता है और आपको अपने हृदय में स्थापित करने से उसे आत्मिक-सुखरूप शीतलता का लाभ होता है — इस प्रकार इन्द्र द्वारा की जानेवाली आपकी सेवा से उसका ही हित होता है। ●

काव्य १७

नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं,
नागम्यरूपस्य तवोपकारी।
तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानो-
रुद्विभ्रतश्छत्रमिवादरेण ॥

प्रभु की सेवा करके सुरपति, बीज स्वसुख के बोता है।
हे अगम्य अज्ञेय! न इससे, तुम्हें लाभ कुछ होता है ॥
जैसे छत्र सूर्य के सम्मुख, करने से दयालु जिनदेव।
करनेवाले ही को होता, सुखकर आतपहर स्वयमेव ॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (नाकस्य पत्युः) इन्द्र की (रम्यम्) मनोहर (परिकर्म) सेवा, (अगम्यरूपस्य) अज्ञेय स्वरूप (तव) आपका (उपकारि न) उपकार करनेवाली नहीं है किन्तु जिसका स्वरूप अप्राप्य है — ऐसे (भानोः) सूर्य के लिए (आदरेण) आदरपूर्वक (छत्रम् उद्विभ्रतः इव) छत्र धारण करनेवाले की तरह, (तस्य एव) उस इन्द्र के लिए ही (स्वसुखस्य) आत्मसुख का (हेतुः) कारण है।

भावार्थ — जिस प्रकार कोई सूर्य के लिए छाता लगावे तो उससे सूर्य का कुछ भी उपकार नहीं होता क्योंकि वह सूर्य छाता



काव्य १८

क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः,
स चेत्किमिच्छाप्रतिकूलवादः।
क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वं,
तन्नो यथातथ्यमवेविचं ते ॥ १८ ॥

कहाँ तुम्हारी वीतरागता, कहाँ सौख्यकारक उपदेश।
हो भी तो कैसे बन सकता, इन्द्रिय-सुख विरुद्ध आदेश ॥
और जगत को प्रियता भी तब, सम्भव कैसे हो सकती।
अचरज, यह विरुद्ध गुणमाला, तुममें कैसे रह सकती ॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (उपेक्षकः त्वम् क्व) कहाँ राग-द्वेषरहित आप? और (सुखोपदेशः क्व) कहाँ सुख का उपदेश देना? (चेत्) यदि आप (सः) सुख का उपदेश देते हैं, (तर्हि) तो आपका (इच्छाप्रतिकूलवादः) इच्छा के विरुद्ध बोलना ही कहाँ है? अर्थात् आपके इच्छा नहीं है — ऐसा कथन क्यों किया जाता है? (असौ क्व) कहाँ इच्छा के अभाव में बोलना? (वा) और (सर्वजगत्प्रियत्वम्) कहाँ सब जीवों को प्रिय होना? इस तरह आपकी प्रत्येक बात में विरोधाभास है; (तत्) अतः मैं (ते यथातथ्यम् नो अवेविचम्) आपकी वास्तविकता, आपके असलीरूप का विवेचन नहीं कर सकता।

भावार्थ — हे भगवन्! जब आप राग-द्वेष से रहित हैं तो किसी को सुख का उपदेश कैसे देते हैं? यदि सुख का उपदेश देते हैं तो इच्छा के बिना कैसे उपदेश देते हैं? यदि इच्छा के बिना उपदेश देते हैं तो जगत् के सब जीवों को प्रिय कैसे हैं? इस तरह आपकी सब बातें परस्पर विरुद्ध हैं। वस्तुतः आपकी असलियत को कोई नहीं जान सकता।

काव्य १८ पर प्रवचन

देखो! भक्तिभावयुक्त कविवर के हृदय से प्रवाहित हृदयोद्गार!
हे प्रभु! आप राग-द्वेष विहीन हैं; अतः आपके किसी प्रकार की इच्छा अवशेष नहीं है, फिर भी आप भव्य जीवों को सुख का उपदेश प्रदान करते हैं। यद्यपि आप वीतराग हैं, तथापि अपनी दिव्यध्वनि द्वारा जीवों के अनादिकालीन दुःख की निवृत्ति एवं सच्चे सुख की उपलब्धि का उपाय बतलाते हैं। इस प्रकार आपकी प्रवृत्ति में परस्पर विरोध-सा लगता है कि आप इच्छाविहीन हैं, तथापि आप उपदेश देते हैं — यह आपकी प्रवृत्ति विचित्र-सी लगती है।

आपको इच्छा नहीं है, फिर भी इच्छावालों को आप उपदेश देते हैं। इच्छावाले बाह्य में सुखाभिलाषा करते हैं, उन्हें आप यह उपदेश देते हैं कि 'बाह्य में सुख नहीं है' — आपका यह उपदेश यद्यपि जीवों की इच्छा (मान्यता) से विरुद्ध है, तथापि उन इच्छावान जीवों को वह रुचिकर प्रतीत होता है। आप उन्हें उनके अभिप्राय से विरुद्ध उपदेशदाता होने पर भी प्रिय लगते हैं। प्रभु! आपकी यह स्थिति बहुत ही अटपटी लगती है क्योंकि इच्छा (मान्यता) विरुद्ध उपदेशदाता तो शत्रु-सा प्रतीत होता है किन्तु आप तो जगत को प्रिय हैं।

हे प्रभु! आप इच्छारहित होने पर भी इच्छा के अभाव की प्रेरणा

देनेवाला आपका उपदेश धाराप्रवाह निकलता है। हे प्रभु! आपकी बलिहारी है। आपको इच्छा का अभाव होने पर भी इच्छावालों को आपका उपदेश है अर्थात् उनकी इच्छा के प्रति विरुद्धता का उपदेश है कि 'इच्छाओं का अभाव करो'— इस प्रकार सामने स्थित जीवों की इच्छा विरुद्ध (मान्यता विरुद्ध) उपदेशप्रदाता होने पर भी आपका उपदेश सुनने के लिए जीव तरसते हैं। इस प्रकार हे भगवान! आपका स्वरूप अद्भुत आश्चर्यकारी है। मैं तो आपके वास्तविक स्वरूप को जानने में असमर्थ हूँ।

प्रभो! वाणी तो व्यभिचारिणी है, उसके द्वारा चैतन्य की महिमा का कथन नहीं हो सकता किन्तु विकल्पातीत होने पर ही चैतन्य की महिमा का परिज्ञान हो सकता है। ●

परस्पर निमिज-नैमिजिक सज्बन्ध

‘कर्म, जीव को चतुर्गति में ले जाते हैं’ — यह कथन जीव एवं कर्म के बीच परस्पर निमिज-नैमिजिक सज्बन्ध की दृष्टि से किया जा रहा है किन्तु ज्ञाता-दृष्टा जीवस्वभाव की दृष्टि से तो जीव का गतियों में आना-जाना है ही नहीं। जीवस्वभाव तो अनादि संसार में वैसा का वैसा ही रहा है। जैसे चलती हुई घड़ी के झूलते हुए घन्टे पर कोई मज्ख्री बैठी है तो घन्टे के घूमते समय ऐसा लगता है कि मज्ख्री भी घूम रही है किन्तु उस समय वस्तुतः मज्ख्री तो जहाँ है, वहीं है; फिरनेवाला तो घड़ी का घन्टा है, मज्ख्री नहीं।

काव्य - ११

तुङ्गात्फलं यत्तदकिञ्चनाच्च,
प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रे -
नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः ॥

तुम समान अति तुङ्ग किन्तु, निधनों से जो मिलता स्वयमेव।
धनद आदि धनिकों से वह फल, कभी नहीं मिल सकता देव ॥
जलविहीन ऊँचे गिरिवर से, नाना नदियाँ बहती हैं।
किन्तु विपुल जलयुक्त जलधि, नहीं निकलती, झरती हैं ॥

अन्वयार्थ - (तुङ्गात् अकिञ्चनात् च) उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्य से भी (यत्फलम्) जो फल (प्राप्यम् अस्ति) प्राप्त हो सकता है, (तत्) वह (समृद्धात् धनेश्वरादेः न) सम्पत्तिवाले धनाढ्यों से नहीं प्राप्त हो सकता है। ठीक ही तो है (निरम्भसः अपि उच्चतमात् अद्रेः इव) पानी से शून्य होने पर भी अत्यन्त ऊँचे पहाड़ के समान, (पयोधेः) समुद्र से (एका अपि धुनी) एक भी नदी (न निर्याति) नहीं निकलती है।

भावार्थ - पहाड़ के आस-पास पानी की एक बूँद भी नहीं है परन्तु उसकी प्रकृति अत्यन्त उन्नत है; इसलिए उससे कई नदियाँ

निकलती हैं परन्तु समुद्र से जो कि पानी से लबालब भरा रहता है, एक भी नदी नहीं निकलती। इसका कारण समुद्र में ऊँचाई का अभाव है। भगवन्! मैं जानता हूँ कि आपके पास कुछ भी नहीं है परन्तु आपका हृदय पर्वत की तरह उन्नत है, दीन नहीं है; इसलिए आपसे हमें जो चीज मिल सकती है, वह अन्य धनाढ्यों से नहीं मिल सकती क्योंकि समुद्र के समान वे भी ऊँचे नहीं हैं अर्थात् कृपण हैं।

काव्य १९ पर प्रवचन

हे भगवान! जो फल उदारचित्तयुक्त दरिद्र मनुष्य से प्राप्त हो सकता है, वह सम्पत्तिशाली लोभी मनुष्यों से कदापि प्राप्त नहीं हो सकता — यह एक सत्य तथ्य है क्योंकि विशाल एवं ऊँचे पर्वतों में यद्यपि जल की बिन्दु भी नहीं होती है, तथापि विशाल नदियाँ इन्हीं में से प्रवाहित होती हैं, जबकि जल से परिपूर्ण समुद्र में से एक भी नदी प्रवाहित नहीं होती।

इसी प्रकार हे नाथ! यद्यपि आपके पास कुछ भी नहीं है अर्थात् आप सर्व परिग्रहों से परिमुक्त हैं, वीतराग हैं; तथापि आपका हृदय पर्वत की भाँति उन्नत है, इस कारण आपसे हमें जो प्राप्त होता है, वह न तो विशाल क्षयोपशमवालों से ही प्राप्त हो सकता है और न अर्द्धलोक के अधिपति इन्द्र से हो प्राप्त हो सकता है।

जहाँ केवलज्ञान पर्यायरूप से परिणमित हो रहा है, वहाँ लेन-देन की वृत्ति ही नहीं है, तथापि बिना इच्छा ही दिव्यध्वनिरूपी अमृत बरसता है। पर्वत से प्रवाहित नदी की भाँति उन्नत प्रकृतियुक्त आपसे ही जगत के जीवों को सर्वस्व प्राप्त होता है।

जल से परिपूर्ण समुद्र में से जैसे एक भी नदी प्रवाहित नहीं होती, अपार सम्पत्ति के स्वामी कंजूस से जगत को कुछ भी प्राप्त नहीं होता;

इसी प्रकार जिन्हें ज्ञान का अत्यधिक क्षयोपशम हो, ग्यारह अङ्ग के पाठी हों; किन्तु अज्ञानी हों — ऐसे जीवों से जीवों को कुछ भी तत्त्व प्राप्त नहीं होता। 'हम बहुत जानते हैं, हमें माननेवाले बहुत हैं' — ऐसे अभिमानी जीवों से भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता है।

हे प्रभु! आपके केवलज्ञान में से जो वाणी प्रवाहित होती है, उसे श्रवणकर दुनिया निहाल हो जाती है। यद्यपि भगवान किसी को कुछ देते नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी द्वारा अद्भुत महिमामयी आत्मस्वरूप प्रतिपादित होता है, उसे श्रवण कर जगत के भव्य जीव अनादि से विस्मृत निज चैतन्य-निधान की पहिचान कर निहाल हो जाते हैं, सुखी हो जाते हैं।

देखो! कुछ न देकर भी भगवान ने सर्वस्व दे दिया। ●

केवलज्ञान की सामर्थ्य

केवलज्ञान की एक समय की पर्याय की कितनी सामर्थ्य है, उसका विचार करने से विकल्प का अभाव होकर निर्विकल्पता हो जाती है। विकल्पातीत चैतन्य की अपार महिमा है। जिस ज्ञान में अपनी सामर्थ्य की प्रतीति आती है, वह ज्ञान अल्पकाल में केवलज्ञानरूप परिणत हो जाता है। वर्तमान में भले ही अल्प भावश्रुतज्ञान हो, तथापि उसकी प्रतीति में अनन्त ज्ञान का माहात्म्य स्थापित हो जाता है।

काव्य - २०

त्रैलोक्यसेवानियमाय दण्डं,
दध्ने यदिन्द्रो विनयेन तस्य।
तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं,
तत्कर्मयोगाद्यदि वा तवास्तु॥

करो जगतजन जिनसेवा, यह समझाने को सुरपति ने।
दण्ड विनय से लिया, इसलिए प्रातिहार्य पाया उसने॥
किन्तु आपके प्रातिहार्य वसु-विधि हैं सो आए कैसे ?।
हे जिनेन्द्र! यदि कर्मयोग से, तो वे कर्म हुए कैसे ?॥

अन्वयार्थ — (यत्) जिस कारण से (इन्द्रः) इन्द्र ने (विनयेन) विनयपूर्वक (त्रैलोक्यसेवानियमाय) तीन लोक के जीवों की सेवा करने के नियम के लिए अर्थात् मैं त्रिलोक के जीवों की सेवा करूँगा और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाऊँगा — इस उद्देश्य से (दण्डम्) दण्ड (दध्ने) धारण किया था, (तत्) उस कारण से (प्रातिहार्यम्) प्रातिहार्यपना (तस्य स्यात्) इन्द्र के ही हो सकता है, (भवतः कुतस्त्यम्) आपके कैसे हो सकता है ? (यदि वा) अथवा (तत्कर्मयोगात्) तीर्थङ्कर नामकर्म का संयोग होने से या इन्द्र

के उस कार्य में प्रेरक होने से (तव अस्तु) आपके भी प्रातिहार्य-प्रतीहारपना हो।

भावार्थ — जब भगवान् ऋषभनाथ भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने के लिए तैयार हुए, तब इन्द्र ने आकर भगवान् की इच्छानुसार सब व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया था अर्थात् प्रतिहार पद स्वीकार किया था। जो किसी काम की व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया करता है, उसे प्रतिहार कहते हैं। प्रतिहार के कार्य अथवा भाव को संस्कृत में प्रातिहार्य कहते हैं। हे प्रभो! जब इन्द्र ने सब व्यवस्था की थी, तब सच्चा प्रातिहार्य-प्रतिहारपना इन्द्र के ही हो सकता है, आपके कैसे हो सकता है ? क्योंकि आपने प्रतिहार का काम थोड़े ही किया था! फिर भी यदि आपके प्रातिहार्य होता ही है, ऐसा कहना है तो उपचार से कहा जा सकता है क्योंकि आप इन्द्र के उस काम में प्रेरक थे।

अथवा इस श्लोक का ऐसा भाव भी हो सकता है — 'तीन लोक के जीव भगवान् की सेवा करो,' इस नियम को प्रचलित करने के लिए इन्द्र ने हाथ में दण्ड लिया था, इसलिए प्रातिहार्यत्व इन्द्र के ही बन सकता है; आपके नहीं। अथवा आपके भी हो सकता है क्योंकि आपसे ही इन्द्र की उस क्रिया का कर्म-कारक का सम्बन्ध होता था।

यहाँ एक और भी गुप्त अर्थ है, वह इस प्रकार है — लोक में प्रातिहार्य पद का अर्थ आभूषण प्रसिद्ध है। भगवान् के भी अशोकवृक्ष आदि आठ प्रातिहार्य या आभूषण होते हैं। यहाँ कवि प्रातिहार्य पद के श्लेष से पहले यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के अन्य देवों की तरह आपके शरीर पर प्रातिहार्य नहीं हैं। इन्द्र के प्रातिहार्य अर्थात् प्रतिहारीपना हो, पर आपके प्रातिहार्य या आभूषण कहाँ से आये ? फिर उपचारपक्ष का आश्रय लेकर कहते हैं कि आपके भी प्रातिहार्य हो सकते हैं।

उसका कारण है 'तत्कर्मयोगात्' अर्थात् आभूषणों के कार्य सौन्दर्यवृद्धि के साथ आपका सम्बन्ध होना है।

काव्य २० पर प्रवचन

जब भगवान संसार में थे, तब इन्द्र उनके छड़ीदार थे और जब भगवान को केवलज्ञान हुआ, तब भी इन्द्र उनकी शोभा में कारणभूत हुए; अतः सचमुच तो इन्द्र के ही प्रातिहार्यपना घटित होता है किन्तु आपके नहीं।

हे जीवों! भगवान का उपदेश सुनने आओ। यहाँ भगवान से तुम्हें सुख का उपदेश प्राप्त होगा; अन्यत्र कहीं भी ऐसा उपदेश प्राप्त नहीं होगा — इस प्रकार इन्द्र छड़ीदार होकर जगत के समक्ष दुन्दुभी द्वारा यह घोषणा करता है। इस कारण यथार्थतः तो इन्द्र के ही प्रातिहार्यपना घटित होता है, तथापि तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय से प्रातिहार्य आपको ही घटित होता है; इन्द्र को नहीं।

जब भगवान ऋषभदेव भोगभूमि के पश्चात् कर्मभूमि की व्यवस्था करने हेतु तैयार हुए थे, तब इन्द्र ने आकर भगवान की इच्छानुसार सम्पूर्ण व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया था, इसलिए कविराज कहते हैं कि प्रातिहार्य तो इन्द्र ने धारण किया था, तथापि यह क्यों कहा जाता है कि भगवान के अष्ट प्रातिहार्य होते हैं ?

भगवान ही कर्मभूमि की व्यवस्था के लिए इन्द्र को प्रेरणादाता थे; अतः उपचार से भगवान के प्रातिहार्यपना घटित होता है। दूसरे, तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय से भगवान के शोभारूप अशोकवृक्षादि अष्ट प्रातिहार्य होते हैं। प्रातिहार्य का अर्थ लोक में आभूषण प्रसिद्ध है। भगवान के भी अशोकवृक्षादि अष्ट प्रातिहार्य होते हैं।

यहाँ प्रातिहार्य पद के अर्थ में कवि कहते हैं कि संसार के अन्य

देवों की भाँति आपके शरीर पर शोभारूप प्रातिहार्य नहीं है। इन्द्र के हों, पर आपके प्रातिहार्य कहाँ से आये ? इन्द्र के तो शरीर की शोभा हो, पर आपके कहाँ से आयी ? — ऐसा कहकर फिर कहते हैं कि आपके भी प्रातिहार्य की शोभा होती है क्योंकि इन प्रातिहार्यों से आपकी शोभा बढ़ती है; इस कारण आपकी भी यह शोभा है।

परमार्थतः विचार किया जावे तो चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की निर्मल-निर्विकल्प पर्याय में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य हैं, वह तो उस पर्याय की शोभा है किन्तु द्रव्य की शोभा क्या है ? प्रभु! सत् चिदानन्द निर्मलानन्दघन आत्मा की शोभा किसमें है ? बारम्बार इस प्रकार कहने पर कहते हैं कि इस निर्मल पर्याय में शोभा, द्रव्य के कारण आई है; इस कारण यह शोभा वस्तुतः द्रव्य की ही है, पर्याय की शोभा नहीं है।

प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिङ्गग्रहण में कहा है कि आत्मा वर्तमान पर्याय का अनुभव करता है, द्रव्य को स्पर्श नहीं करता — इस कारण अनुभव को ही आत्मा कहा है किन्तु वास्तव में यह अनुभव, द्रव्य के ही कारण हुआ है।

अरे भाई! ये तो भगवान आत्मा के गीत हैं। विष + अपहार = विषापहार। जहाँ चैतन्य भगवान का सम्मान किया, वहाँ पर्याय में मिथ्यात्व, राग - द्वेषादिरूप विष का अभाव एवं सम्यक्त्व-वीतरागत्वरूप अमृत का प्रादुर्भाव हो जाता है; अतः इस अनुभव की शोभा वस्तुतः द्रव्य के ही कारण प्रगट हुई है।

इस प्रकार इस श्लोक में अष्ट प्रातिहार्य को लक्ष्य में रखकर भगवान की स्तुति की गयी है। ●

काव्य २१

श्रिया परं पश्यति साधु निःस्वः,
श्रीमान्न कश्चित्कृपणं त्वदन्यः ।
यथा प्रकाशस्थितमन्धकारस्थायी
क्षतेऽसौ न यथा तमःस्थम् ॥

धनिकों को तो सभी निधन, लखते हैं, भला समझते हैं ।
पर निधनों को तुम सिवाय जिन, कोई भला न कहते हैं ॥
जैसे अन्धकारवासी, उजियाले वाले को देखें ।
वैसे उजियाला वाला नर, नहीं तमवासी को देखे ॥

अन्वयार्थ — (निःस्वः) निर्धन पुरुष (श्रिया परम्) लक्ष्मी से श्रेष्ठ अर्थात् सम्पन्न मनुष्य को (साधु) अच्छी तरह आदरभाव से (पश्यति) देखता है किन्तु (त्वदन्यः) आपके अलावा (कश्चित्) कोई (श्रीमान्) सम्पत्तिशाली पुरुष (कृपणम्) निर्धन को (साधु न पश्यति) अच्छे भावों से नहीं देखता । ठीक है, (अन्धकारस्थायी) अन्धकार में ठहरा हुआ मनुष्य (प्रकाश-स्थितम्) उजाले में ठहरे हुए पुरुष को (यथा) जिस प्रकार (ईक्षते) देख लेता है; (तथा) उसी प्रकार (असौ) उजाले में स्थित पुरुष (तमःस्थम्) अँधेरे में स्थित पुरुष को (न ईक्षते) नहीं देख पाता ।

भावार्थ — हे प्रभो! संसार के श्रीमान, निर्धन पुरुषों को बुरी दृष्टि या निगाह से देखते हैं, पर आप श्रीमान होते हुए भी ज्ञानादि सम्पत्ति से रहित मनुष्यों को बुरी निगाह से नहीं देखते, बल्कि उन्हें भी अपनाकर हित का उपदेश देकर सुखी करते हैं; अतः इस तरह आप संसार के अन्य श्रीमन्तों से भिन्न ही श्रीमान हैं । इस तरह दोनों की श्रीलक्ष्मी में भेद है । उनके पास रुपया, पैसा, चाँदी, सोना वगैरह जड़ लक्ष्मी है; पर आपके पास अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप अनन्त चतुष्टयमय लक्ष्मी है ।

काव्य २१ पर प्रवचन

हे भगवान! हे परमात्मा!! हे सर्वज्ञ प्रभु!!! इस प्रकार निज सर्वज्ञ स्वभाव को लक्ष्यगत करके भगवान की स्तुति करते हैं कि हे भगवान! लक्ष्मीरहित निर्धन पुरुष, लक्ष्मीयुक्त धनिक पुरुषों को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते हैं किन्तु वे धनवान पुरुष उस लक्ष्मीविहीन पुरुष को निर्धन समझकर, किसी भी गिनती में नहीं लेते अर्थात् वे उसे हीनभाव से देखते हैं और यह ठीक ही है क्योंकि अन्धकार में खड़ा हुआ पुरुष उजाले में खड़े पुरुष को भलीभाँति देख लेता है अर्थात् बाह्य की सम्पत्तिरहित पुरुष बाह्य सम्पत्तिवाले पुरुष को भलीभाँति देख लेता है किन्तु उजाले में स्थित या सम्पत्तिशाली पुरुष अन्धकार में स्थित पुरुष या निर्धन को नहीं देखता, गिनती में नहीं लेता ।

लेकिन हे भगवान! आप में तो अलग ही विचक्षणता है । आप तो ज्ञान-दर्शनादि सम्पत्ति से सम्पत्तिशाली होने पर भी अज्ञानी अर्थात् निर्धन के लिए आपकी दिव्यध्वनि खिरती है; अतः आपकी जाति अन्य श्रीमन्तों से निराली ही है ।

हे प्रभु! आप तो सांसारिक प्राणी को भी अनन्त ज्ञानादिरूप

सम्पत्ति से संयुक्त ही देख रहे हैं। पर्याय अपेक्षा से अज्ञानी जीवों को भी आप गिनती में लेते हैं। आप तो ऐसा मानते हैं कि सभी जीव परमार्थतः सिद्धसदृश ही शुद्ध हैं; भूल तो मात्र एक समय की पर्याय में ही है, द्रव्यस्वभाव में नहीं; अतः आप तो जुदी ही जाति के श्रीमान् हैं। आपकी तो रीति ही निराली है।

द्रव्य में जो कुछ भरा था, शक्तिरूप से विद्यमान था, उसे आपने पर्याय में अभिव्यक्त किया है। इतना ही नहीं, आप तो सांसारिक प्राणियों में भी द्रव्य अपेक्षा शुद्धता देखकर, उन्हें भी गिनती में गिनते हैं।

यह देखो! कवि निज चैतन्य के गाने गा रहे हैं। हे भगवान! हम जैसे हमारी सत्ता को देखते हैं, वैसे ही आप प्रत्येक प्राणी की सत्ता को देखते हैं।

हे प्रभु! धनिक लोग निर्धनों को निम्नदृष्टि से देखते हैं किन्तु आप अनन्त ज्ञानादिरूप सम्पत्ति से संयुक्त होने पर भी ज्ञानादिविहीन अज्ञानी जीवों को निम्नदृष्टि से नहीं देखते, अपितु आप तो ऐसा देखते हैं कि यह जीव तो मात्र पर्याय में ही भूला हुआ है, पामर है किन्तु वस्तुस्वभाव अथवा गुण में तो उस भूल की गन्ध का भी प्रवेश नहीं है।

देखो! यह चैतन्यस्वभाव के गीत गाये जा रहे हैं। पर्याय की भूल को हम नहीं देखते, हम तो निर्भूल-निर्दोष चैतन्य की प्रभुता को ही देखते हैं। अहो! यह चैतन्यस्वभाव की भक्ति एवं भगवान की भक्ति!

हे प्रभो! लौकिक धनवानों और आप में बड़ा अन्तर है। उनके पास तो मात्र धन, मकान, सोना, चाँदी, हीरा इत्यादि जड़-सम्पत्ति ही है; जबकि आप तो सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शनादि अनन्त चतुष्टयरूप ज्ञानमय सम्पत्ति से युक्त हैं।

प्रभु! यह सम्पूर्ण सम्पत्ति मेरे पास भी है परन्तु यह मैंने आपके श्रद्धा एवं ज्ञान से निश्चित किया है किन्तु आपने तो निजात्मस्वरूप में स्थिरता द्वारा उसे पर्याय में अभिव्यक्त करके अनन्त चतुष्टय उपलब्ध भी कर लिया है। ●

इसमें कोई आश्चर्य नहीं

एकीभावस्तोत्र के सन्दर्भ में ऐसा आता है कि वादिराज मुनि को कोढ़ था। उनका एक भक्त नित्य ही राजसभा में जाता था। किसी ने ईर्ष्यावश राजा से शिकायत की कि 'इस श्रावक के गुरु कोढ़ी हैं और यह सदैव उनके समीप जाता है, वे भी नित्य ही राज्य में आते हैं; इस कारण राज्य में सभी को कोढ़ होने का खतरा है।' इतना सुनकर राजा ने उस श्रावक से पूछा कि 'ज्या तुज्जारे गुरु कोढ़ी हैं?' तब श्रावक ने भक्तिवश इस बात से इनकार कर दिया कि 'जैनमुनि कोढ़ी नहीं होता;' लेकिन सत्य वस्तु-स्थिति तो उसे पता थी; अतः चिन्ता-निमग्न होकर वह गुरु के समीप पहुँचा तथा उनके समक्ष सारी स्थिति बयान की। वादिराज मुनिराज ने श्रावक से कहा कि 'आप शान्ति रखे, सब ठीक हो जायेगा।' तत्पश्चात् मुनिवर ने एकीभाव स्तोत्र की रचना की, जिसमें भगवान ऋषभदेव की स्तुति करते हुए वे कहते हैं कि 'हे भगवान! जब आप स्वर्ग से चलकर माता के गर्भ में पधारे थे, तब इन्द्र ने सज्जपूर्ण नगरी की सुवर्णमयी रचना की थी, तब तो हे प्रभो! आप भी मेरे हृदय में विराजमान हैं, अतः इस देह का कोढ़ मिटकर यह देह सुवर्णमयी बन जाए, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

काव्य २२

स्ववृद्धिनिःश्वास-निमेषभाजि,
प्रत्यक्षमात्मानुभवेऽपि मूढः ।
किं चाखिलज्ञेयविवर्तिबोध-
स्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः ॥

निज शरीर की वृद्धि, श्वास-उच्छ्वास और पलकें झपना।
ये प्रत्यक्ष चिह्न हैं जिसमें, इतना भी अनुभव अपना ॥
कर न सकें जो तुच्छबुद्धि वे, हे जिनवर! क्या तेरा रूप।
इन्द्रियगोचर कर सकते हैं, सकल ज्ञेयमय ज्ञानस्वरूप ? ॥

अन्वयार्थ — (प्रत्यक्षम्) यह प्रकट है कि (यः) जो मनुष्य (स्ववृद्धिनिःश्वासनिमेषभाजि) अपनी वृद्धि, श्वासोच्छ्वास और आँखों की टिमकार को प्राप्त (आत्मानुभवे अपि) अपनी आत्मा के अनुभव करने में भी (मूढः) मूर्ख है, (स लोकः) वह मनुष्य, (अखिलज्ञेयविवर्तिबोधस्वरूपम्) सम्पूर्ण पदार्थों की सम्पूर्ण पर्यायों को जाननेवाला (अध्यक्षम्) सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान को अर्थात् हे प्रभु! आपको (किं च अवैति) कैसे जान सकता है ?

भावार्थ - भगवन्! जो मनुष्य अपने आपको स्थूल चिह्नों से भी जानने में समर्थ नहीं है, वह ज्ञानस्वरूप तथा आत्मा में विराजमान आपको कैसे जान सकता है ? अर्थात् नहीं जान सकता ।

काव्य २२ पर प्रवचन

इस नजदीक में शरीर-सम्पदा की प्रतिसमय वृद्धि हो रही है, जब इसे भी जीव नहीं जान सकता; श्वासोच्छ्वास भी दिखलायी नहीं देते और आँख की टिमकार को भी नहीं जान सकता, तब अपने को 'ज्ञान स्वभाव' कैसे जान सकता है ?

जब यह जीव वर्तमान विकल्प अर्थात् पुण्य-पाप के भाव तथा उनके बन्ध को भी नहीं जानता, तब अबन्धस्वभावी निज भगवान आत्मा को वह किस प्रकार जान सकेगा ?

कवि धनञ्जयकृत यह कोई जुदी ही जाति की स्तुति है ।

हे भगवान! जो जीव, शरीर की क्रिया और पुण्य-पापरूप रागभाव को तथा उनके बन्धन को ज्ञान में नहीं लेता, नहीं जानता और कहता है कि मैं आत्मा को जानता हूँ तो वह मूढ़ है । जो एक समय की प्रगट पर्याय की स्वतन्त्रता को नहीं जानता, वह किस प्रकार अप्रगट परमात्मद्रव्य को जानेगा ? किसी भी प्रकार नहीं जान सकता ।

भाई! तेरे अन्दर की लीला अलौकिक है । तेरे पूर्णानन्द स्वभाव की क्या बात करना ? भगवान आत्मा तो विकल्पातीत है; विकल्प से ज्ञात हो सके — ऐसी वस्तु वह है ही नहीं ।

जो मनुष्य निज शरीर के श्वासोच्छ्वास, आँखों की पलक इत्यादि को भी जानने में असमर्थ है वह अन्तर में विराजमान ज्ञानस्वरूप आत्मा को किस प्रकार जान सकता है ? नहीं जान सकता । ●

इस काव्य की संस्कृत टीका में कहा है कि जो मनुष्य आत्मा का अनुभव करने में भी अर्थात् निजस्वरूप के अनुभव को प्रत्यक्ष या साक्षात् करने में भी मूढ़ है — मूर्ख है, वह मनुष्य सम्पूर्ण ज्ञेयभूत पदार्थों की सम्पूर्ण पर्यायों का ज्ञान करनेवाले, प्रत्यक्ष केवलज्ञान स्वरूप आपको कैसे जान सकता है ? नहीं जान सकता । अखिल ज्ञेय अर्थात् पदार्थ और उतनी विवर्त अर्थात् पर्यायों उनको जानना अर्थात् उनके स्वरूप या तत्त्व को जानना ।

काव्य २३

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव
त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य ।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं
पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति ॥

‘उनके पिता’, ‘पुत्र हैं उनके’, कर प्रकाश यों कुल की बात ।
नाथ! आपकी गुण-गाथा जो, गाते हैं रट-रट दिनरात ॥
चारु चित्तहर चामीकर को, सचमुच ही वे बिना विचार ।
उपल-शकल से उपजा कहकर, अपने कर से देते डार ॥

अन्वयार्थ — (देव) हे नाथ! (ये) जो मनुष्य, आप (तस्य
आत्मजः) उनके पुत्र हो और (तस्य पिता) उनके पिता हो (इति)
— इस प्रकार (कुलम् प्रकाश्य) कुल का वर्णन कर (त्वाम्
अवगायन्ति) आपका अपमान करते हैं, (ते) वे (अद्य अपि)
अब भी (पाणौ कृतम्) हाथ में आये हुए (हेम) सुवर्ण को
(आश्मनम्) पत्थर है या पत्थर से पैदा हुआ है, (इति) इस हेतु से
(पुनः) फिर (अवश्यं त्यजन्ति) अवश्य ही छोड़ देते हैं ?

भावार्थ — एक तो सुवर्ण हाथ नहीं लगता, यदि किसी तरह
हाथ लग भी जावे तो उसे यह सोचकर कि इसकी उत्पत्ति पत्थरों से

हुई है, फिर फेंक देना मूर्खता है। इसी तरह आपका श्रद्धान व ज्ञान
सबको नहीं होता। यदि किसी को हो भी जावे तो वह आपको
मनुष्यकुल में पैदा बतलाकर पुनः छोड़ देता है, यह सबसे बढ़कर
मूर्खता है। सुवर्ण यदि शुद्ध है, चाहे वह पत्थर से नहीं, दुनिया के और
किसी हल्के पदार्थ से उत्पन्न हुआ हो तो भी बाजार में उसकी कीमत
पूरी ही लगेगी और यदि वह मैलसहित है, अशुद्ध है तो किसी अच्छे
पदार्थ से उत्पन्न होने पर भी उसकी पूरी कीमत नहीं लग सकती।

इस प्रकार जो आत्मा शुद्ध है, कर्ममल से रहित है; भले ही उस
पर्याय में नीचकुल में पैदा हुआ हो, वह पूज्य कहलाता है और यदि
वही आत्मा उच्चकुल में पैदा होकर भी अशुद्ध है, मलिन है तो भी उसे
कोई पूछता भी नहीं है।

काव्य २३ पर प्रवचन

हे आदीश्वरनाथ! धर्म की आदि (प्रारम्भ) करनेवाले चैतन्यनाथ!!
यहाँ तो आदिनाथ भगवान को लक्ष्य करके कहते हैं कि हे नाथ!
आपको नाभिराय के पुत्र के रूप में पहिचानते हैं, क्या यह बात सत्य
है? महात्मा, धर्मात्मा, केवलज्ञानी परमात्मा की पहिचान उनके परिवार
द्वारा करना भ्रान्ति है। वास्तव में वे आपका अपमान करते हैं, जो
नाभिराय के पुत्र एवं भरत चक्रवर्ती के पिता के रूप में आपकी
पहिचान कराते हैं क्योंकि आप कुलस्वरूप नहीं हैं।

आपकी निर्मल परिणति, द्रव्य में से प्रगट हुई है — इस कारण
द्रव्य ही आपका कुल है। शारीरिक सम्बन्धों से आपकी पहिचान
करनेवाले आपकी पहिचान की विधि से अनभिज्ञ हैं।

यदि कोई हस्तगत सुवर्ण को यह कहकर फेंक दे कि यह तो
पत्थर की खान में से उत्पन्न हुआ है तो वह महामूर्ख है। उसी प्रकार

जो शरीर के कुल से आपकी पहिचान कराये किन्तु निर्मलानन्द चैतन्यधातु में से आपकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उस कुल को नहीं पहिचाने तो वह भी महामूर्ख है, अज्ञानी है। अचिन्त्य प्रभु अनादि – अनन्त स्वयंसिद्ध ही सर्वज्ञ का 'कुल' है; अतः जो भगवान के शरीर की ही स्तुति करते हैं और शरीर से ही भगवान की पहिचान कराते हैं, वे बड़ी भ्रान्ति में हैं क्योंकि आपकी स्तुति तो आपके गुणों से है।

कोई ऐसा माने कि मनुष्य तो अल्पज्ञ ही होता है; मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता तो वह भी मूढ़ है। जो सम्पूर्ण वीतराग हो, वह सम्पूर्ण सर्वज्ञ हो। आत्मा अखण्ड एक द्रव्य होने से उसकी ज्ञानसामर्थ्य परिपूर्ण है। आत्मा न तो मनुष्य है और न देव; न बादर है और न सूक्ष्म; आत्मा तो आत्मा है। आत्मा की प्रतीति करके वीतराग होने पर सर्वज्ञ हुआ जा सकता है। मनुष्य देह के निमित्तरूप होने पर भी, उसके कारण केवलज्ञान प्राप्त होता है — ऐसा कथन करनेवाले आत्मा का परिज्ञान नहीं कर सकते।

शरीर और राग की क्रिया करके आत्मा को प्राप्त कर लूँगा — ऐसा माननेवाले भी आत्मा की क्रिया को नहीं जानते। आत्मा की सम्पूर्ण सामर्थ्य का विश्वास लाकर, उसमें स्थिरता करके, स्वरूप के अवलम्बन से सर्वज्ञपद प्रगट किया जा सकता है। कितने ही ऐसा कहते हैं कि क्या बनिया केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है? वह तो ब्राह्मण प्राप्त कर सकता है? क्योंकि बनिया तो अनपढ़ होता है, उसे केवलज्ञान कैसे हो सकता है? अरे सुन भाई! कल का लकड़हारा भी आज केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। केवलज्ञान का शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। केवलज्ञान तो आत्मा को आत्मा से ही हो सकता है, पर से नहीं। शरीर मजबूत हो तो केवलज्ञान हो — ऐसा माननेवाले, न तो आपको जानते हैं और न आत्मा को ही जानते हैं। भाई! न तो

शरीर केवलज्ञान प्राप्त करता है और न शरीर के आधार से केवलज्ञान होता है।

मोर पंखी में ताँबा होता है, उसका रस निकालकर उसकी भस्म क्षयरोगी को दी जाए और यदि उसका पुण्योदय हो तो उस भस्म से क्षयरोग समाप्त हो जाता है। अतः वैद्य को ही भस्म की महिमा होती है कि यह मोर पंखी इतनी मूल्यवान है। अज्ञानी को मोर पंखी की कुछ भी कीमत नहीं है क्योंकि उसे यह ज्ञात ही नहीं है कि बाह्य के ताँबे की अपेक्षा इस ताँबे की जाति अन्य प्रकार की है। इसी प्रकार शरीर और विकल्प की महिमा करनेवाले को चैतन्यरस की महिमा नहीं है; इस कारण वह चैतन्य का विस्मरण कर देता है। अरे! सुवर्ण गन्दगी में पड़ा होने पर भी है तो वह है सुवर्ण ही न! इससे उसके मूल्य में क्या कमी आ गयी? इसी प्रकार इन शरीर, विकल्पादि की मलिनता के समय चैतन्यदेव भिन्न हाथ आया, ज्ञात हुआ तो क्या चैतन्य का मूल्य कम हो गया? अरे! चैतन्य तो चैतन्य ही है। ●

मुक्तदशा प्राप्ति की विधि

निश्चय से देखा जाए तो ये सभी नाम भगवान चैतन्यधातु के हैं। ध्रुव चिदानन्द आत्मा ज्ञान-आनन्दादि अनन्त-अनन्त गुणों की खान है। यह वास्तव में चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकुञ्ज, सिद्धरस, महामन्त्रादि सबकुछ है। ये सब वास्तव में आत्मा को ही लागू पड़ता है। ऐसी पहिचान जिसे होती है, उसके संसार का अल्पकाल में ही अभाव हो जाता है और उसे मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है।

अपने वश में कर लिया, उस मोह को भी आपने जीत लिया है अर्थात् आप मोहरहित और राग-द्वेष से शून्य हैं।

काव्य २४ पर प्रवचन

हे भाई! निर्बल के साथ शत्रुता तो ठीक, पर बलवान के साथ शत्रुता मत कर! अर्थात् बलवान चैतन्यधातु का विरोध मत कर!

इस मोह ने जगत को मार डाला है। नौवे ग्रैवेयक तक जानेवाले द्रव्यलिङ्गी भी 'मैंने ऐसा किया', 'मैंने अट्टाईस मूलगुणों का पालन किया' इत्यादि प्रकार से अभिमान कर-करके मोह से मरते हैं, संसार में परिभ्रमण करते हैं।

इस मोह के सन्मुख जगत के सभी जीव पराजित हो जाते हैं, किन्तु हे नाथ! आपने उस जगविजयी मोह को भी पराजित कर दिया है; अतः आप तो महाबलवान हैं। आप तो मिथ्यात्व एवं अज्ञान को पराजित करके सर्वज्ञ हो गये हैं।

मूर्खता के स्वरूप को प्रदर्शित करनेवाली एक कथा इस प्रकार आती है —

एक गाँव था, किन्तु वहाँ की बावड़ी उस गाँव से काफी दूर पड़ती थी। उसी गाँव में कुछ मूर्ख भी रहते थे। एक दिन वे सभी इकट्ठे हुए और उस बावड़ी के अगले हिस्से से धोतियाँ बाँधकर उसे खींचने लगे। खींचने के कारण जब धोतियाँ चर्र चर्र... करती हुई फटने लगीं, तब वे मूर्ख कहने लगे — 'देखो! बावड़ी खिसक रही हैं।'

अरे मूर्खों! बावड़ी नहीं, तुम्हारी धोतियाँ फटी हैं।

इसी प्रकार यह मूर्ख अज्ञानी दया, दान, पूजादिक करके कहते हैं कि अब तो हम कुछ आगे बढ़ गये हैं, किन्तु भाई! शुभाशुभराग के जाल से आत्मा नहीं पकड़ा जा सकता। भाई! तू अज्ञानता मत कर!

काव्य २४

दत्तश्चित्रलोक्यां पटहोऽभिभूताः

सुरासुरास्तस्य महान्स लाभः।

मोहस्य मोहस्त्वयि को विरोद्धुं

मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः॥

तीन लोक में ढोल बजाकर, किया मोह ने यह आदेश।
सभी सुरासुर हुए पराजित, मिला विजय यह उसे विशेष॥
किन्तु नाथ! यह निबल आपसे, कर सकता था कहाँ विरोध।
वैर ठानना बलवानों से, खो देता है खुद को खोद॥

अन्वयार्थ — मोह के द्वारा (त्रिलोक्याम्) तीनों लोकों में (पटहः) विजय का नगाड़ा (दत्तः) दिया गया अर्थात् बजाया गया; उससे जो (सुरासुराः) सुर और असुर (अभिभूताः) तिरस्कृत हुए, (सः) वह (तस्य) उस मोह का (महान् लाभः) बड़ा लाभ हुआ किन्तु (त्वयि) आपके विषय में (विरोद्धुम्) विरोध करने के लिए (मोहस्य) मोह को (कः) कौनसा (मोहः) भ्रम हो सकता था अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि (बलवद्विरोधः) बलवान के साथ विरोध करना (मूलस्य नाशः) मानो मूल का नाश करना है।

भावार्थ — हे भगवन्! जिस मोह ने संसार के सब जीवों को

किन्तु क्या करें? इस मोह ने — मिथ्यात्वभाव ने जगत को पराजित कर दिया है।

हे भगवान! ऐसे मोहराजा को भी आप जीत चुके हैं; अतः जिन्होंने मोह को जीता है, वे आपकी महिमा कर सकते हैं किन्तु जो मिथ्यात्वभावमय मोह से आच्छादित हैं, वे आपकी कीमत (विनय, महिमा या भक्ति) कदापि नहीं कर सकते। ●

सर्वज्ञ परमात्मा की निश्चय स्तुति

जो इन्द्रिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणन्ति जे णिच्छिदा साहू ॥

अर्थात् जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानते हैं, उन्हें जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं, वे वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं।

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमद्विवियाणया बेति ॥

अर्थात् जो मुनि, मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावों से अधिक जानता है, उस मुनि को परमार्थ के जाननेवाला जितमोह कहते हैं।

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥

अर्थात् जिसने मोह को जीत लिया है, ऐसे साधु के जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट हो तब निश्चय के जाननेवाले निश्चय से उस साधु को 'क्षीणमोह' नाम से कहते हैं।

(- समयसार, गाथा ३१-३३)

काव्य २५

मार्गस्त्वयैको ददृशे विमुक्तेः,
चतुर्गतीनां गहनं परेण ।
सर्वं मया दृष्टमिति स्मयेन
त्वं मा कदाचित् भुजमालुलोकः ॥

तुमने केवल एक मुक्ति का, देखा मार्ग सौख्यकारी।
पर औरों ने चारों गति के, गहन पंथ देखे भारी ॥
इससे सब कुछ देखा हमने, यह अभिमान ठान करके।
हे जिनवर! नहीं कभी देखना, अपनी भुजा तान करके ॥

अन्वयार्थ — (त्वया) आपके द्वारा (एकः) एक (विमुक्तेः) मोक्ष का ही (मार्गः) मार्ग (ददृशे) देखा गया है और (परेण) दूसरों के द्वारा (चतुर्गतीनाम्) चारों गतियों का (गहनम्) सघन वन (ददृशे) देखा गया है, मानो इसीलिए (त्वम्) आपने (मया सर्वं दृष्टम्) मैंने सब कुछ देखा है, (इति स्मयेन) इस अभिमान से (कदाचित्) कभी भी (भुजम्) अपनी भुजाओं को (मा आलुलोकः) नहीं देखा।

भावार्थ — घमण्डियों का स्वभाव होता है कि वे अपने को बड़ा समझकर बार-बार अपनी भुजाओं की तरफ देखते हैं, पर आपने

घमण्ड से कभी अपनी भुजाओं की तरफ नहीं देखा। उसका कारण यह है कि आप सोचते थे कि मैंने तो सिर्फ एक मोक्ष का ही रास्ता देखा है और अन्य सभी देवी-देवता चारों गतियों के रास्तों से परिचित हैं; इसलिए मैं उनके सामने अल्पज्ञ हूँ। अल्पज्ञ का बहुज्ञानियों के सामने अभिमान कैसा ?

श्लोक का तात्पर्य यह है कि हे प्रभु! आप अभिमान से रहित हैं और निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त होनेवाले हैं परन्तु अन्य देवी-देवता अपने-अपने कार्यों के अनुसार नरक आदि चारों गतियों में घूमा करते हैं।

काव्य २५ पर प्रवचन

हे प्रभु! आपने तो मोक्ष का एक ही मार्ग बतलाया है, जबकि जगत् के लोगों ने तो अनेक मार्ग बतलाए हैं। अन्य देवों ने चतुर्गति के अनेक मार्ग बतलाए हैं — इस कारण वे हो गये बड़े और आप रह गये छोटे? ऐसा नहीं है।

अथवा दूसरे प्रकार से कहा जाये तो हे त्रिलोकीनाथ परमात्मा! आत्मानुभव की दृष्टि, ज्ञान एवं चारित्ररूप एक ही मोक्षमार्ग है — ऐसा आपने माना है। अज्ञानियों ने तो व्यवहार भी मोक्षमार्ग है, देहाश्रित क्रिया भी मोक्षमार्ग है, इस प्रकार दो-चार मोक्षमार्ग बतलाये हैं किन्तु वस्तुतः ये मोक्ष के मार्ग न होकर, संसार-परिभ्रमण के ही मार्ग हैं। आपके द्वारा प्रतिपादित मुक्ति का मार्ग तो एक ही प्रकार का है।

हे भगवान! आपने तो चतुर्गति परिभ्रमण के नाश का, स्वतन्त्रता का ही उपदेश प्रदान किया है; जबकि अज्ञानीदेव तो चतुर्गति में परिभ्रमण का ही उपदेश देते हैं।

प्रभो! आपने तो धाराप्रवाहरूप से 'चार गति के नाश एवं निर्वाण

की प्राप्ति का, परतन्त्रता के निवारण एवं स्वतन्त्रता की प्राप्ति का' — एक ही मार्ग बतलाया है।

'अपनी भुजा को ही बारम्बार देखना' — यह अभिमानियों का स्वभाव होता है किन्तु आपने कभी अभिमानवश इस प्रकार नहीं देखा। तात्पर्य यह है कि आप तो नासाग्रदृष्टि से विराजमान हैं।

जिस प्रकार चावल और थैली भिन्न होने से, उनकी एक कीमत न होने से, उन्हें कोई भी एक नहीं मानता; इसी प्रकार 'मोक्षमार्ग दो प्रकार है' — ऐसी कथनपद्धति होनेमात्र से ही दो प्रकार का मोक्षमार्ग नहीं मान लेना चाहिए।

हे प्रभु! आपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से किया है; उसके सम्यक् अभिप्राय को ग्रहण नहीं करके, अज्ञानी जीव मोक्षमार्ग ही दो प्रकार का मान लें तो वह मूढ़ जीव चतुर्गति में ही परिभ्रमण करेगा।

जगत के अन्य देवी-देवता तो चारगति के मार्ग से ही परिचित हैं; अतः वे तो वही मार्ग बतायेंगे न! किन्तु आपने तो कोई अलौकिक / अदृष्टमार्ग देखा है; अतः आप वही मार्ग बतलाते हैं।

आपने तो यह प्रतिपादन किया है कि वचनातीत, मनातीत, विकल्पातीत अन्तरङ्ग मोक्षमार्ग एक ही प्रकार है। हे परमात्मा! अन्य देवों की अपेक्षा कम अर्थात् एक ही मोक्षमार्ग आपने बतलाया है; अतः आपको अभिमान नहीं है।

तात्पर्य यह है कि प्रभु! आप तो अभिमानरहित हैं और निश्चित ही मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं किन्तु ये अन्य देवी-देवता तो अपने-अपने भावों के फलानुसार चारों गतियों में ही परिभ्रमण किया करते हैं।

देखो! इस विधि से निर्मलानन्द चैतन्य भगवान की भक्ति करना ही सम्यक्भक्ति है। ●

काव्य २६

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः,
कल्पान्तवातोऽम्बुनिधेर्विघातः ।
संसारभोगस्य वियोगभावो,
विपक्षपूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये ॥

रवि को राहू रोकता है, पावक को वारि बुझाता है ।
प्रलयकाल का प्रबल पवन, जलनिधि को नाच नचाता है ॥
ऐसे ही भव-भोगों को, उनका वियोग हरता स्वयमेव ।
तुम सिवाय सबकी बढ़ती पर, घातक लगे हुए हैं देव ॥

अन्वयार्थ — (स्वर्भानुः) राहु, (अर्कस्य) सूर्य का; (अम्भः) पानी, (हविर्भुजः) अग्नि का; (कल्पान्तवातः) प्रलयकाल की वायु, (अम्बुनिधेः) समुद्र का तथा (वियोग-भावः) विरहभाव, (संसारभोगस्य) संसार के भोगों का (विघातः) नाश करनेवाला है । इस प्रकार (त्वदन्ये) आपसे भिन्न सब पदार्थ (विपक्षपूर्वाभ्युदयाः सन्ति) विनाश के साथ ही उदय होते हैं ।

भावार्थ — हे प्रभो! संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं, सिर्फ आप ही सामान्यस्वरूप की अपेक्षा नित्य हैं अर्थात् आप जन्म-मरण से रहित हैं और आपकी यह विशुद्धता भी कभी नष्ट नहीं होती ।

काव्य २६ पर प्रवचन

देखो, यह स्तुति! हे प्रभु! जैसे राहू, सूर्य का घातक है; पानी, अग्नि का घात करता है; प्रलयकाल की पवन, समुद्र के पानी को नचाती है; इसी प्रकार संसार के भोग भी अपने नाश द्वारा वियोगावस्था को प्राप्त होते हैं अर्थात् संसार के संयोग का शत्रु वियोग है । इस प्रकार आपसे भिन्न सभी पदार्थ उत्पत्ति के साथ ही नष्ट होते हैं और नाशवान पदार्थ वियोग के साथ ही उत्पन्न होते हैं ।

अनित्यभावना का वर्णन करते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि यह शरीर जन्म प्राप्त करता है, इससे पूर्व ही अनित्यता ने इसे गोद में ले लिया है; माता तो बालक को बाद में गोद लेती है अर्थात् बालक का जन्म हो और माता उसे गोद में ले, उसके पूर्व ही अनित्यता उसे अपनी गोद में ले लेती है । इस प्रकार शरीर की अनित्यता का स्वरूप वहाँ बतलाया गया है ।

यहाँ कहते हैं कि हे प्रभु! जगत के बाह्य उदय तो विपक्ष या शत्रु सहित होते हैं किन्तु आपका उदय तो ऐसा है कि जो आपकी आराधना करता है, फिर उसका कोई विपक्ष या शत्रु हो ही नहीं सकता ।

दूसरे प्रकार से कहें तो पुण्य के भाव भी विपक्ष अर्थात् शत्रुसहित हैं अर्थात् पुण्योदय में भी उसका शत्रु, पापोदय आये बिना नहीं रह सकता, किन्तु हे नाथ! चिदानन्दमूर्ति प्रभु! जो आपकी आराधना करता है, अखण्ड आनन्द का सेवन करता है, श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र्य द्वारा जो तुम्हारी आराधना करता है, उसका कोई विपक्ष नहीं हो सकता अर्थात् उसे गिरानेवाला कोई नहीं हो सकता ।

लौकिक में भर्तृहरि के श्लोक में आता है कि — ‘ भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं ’ अर्थात् जगत के सभी पदार्थ भयसहित हैं । पण्डित

श्री बनारसीदासजी ने भी नाटक समयसार में कहा है — ‘सर्वत्र ही भय है, मात्र आत्मा की उदासीनदशा में ही निर्भयता है; अन्यथा पुण्य का आराधन और पाप का आराधन — ये सभी प्रतिकूलतारूपी शत्रु द्वारा नाश को प्राप्त होनेवाले हैं।’

अज्ञानी कहते हैं कि हम बहुत पुण्य करेंगे, जिससे धीरे-धीरे पवित्रता प्रगट होगी, सम्यग्दर्शन प्राप्त होगा — ऐसे अज्ञानियों को सम्बोधित करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि सुन! एक बार तेरे बाँधे हुए पुण्य की क्या स्थिति होगी, उसे सुन —

मिथ्यात्वदशा में कदाचित् राग अत्यन्त मन्द हो जावे तो सातावेदनीय कर्म की पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति बँध जाती है। सम्यग्दृष्टि के इतनी लम्बी स्थिति का बन्ध नहीं होता क्योंकि धर्मी जीव के संसार की स्थिति में कारणभूत लम्बा कर्म नहीं हो सकता। जिसे चैतन्यमूर्ति निर्विकल्प वीतरागस्वभाव का श्रद्धान ज्ञान-आचरणरूप आराधना प्रवर्तित है — ऐसे धर्मी को जो शुभभाव होता है, उससे उसे सातावेदनीय कर्म की अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण ही स्थिति का बन्ध होता है।

यद्यपि धर्मी जीव के सातावेदनीय कर्म की अल्पस्थिति का ही बन्ध होता है, तथापि अनुभाग (फलदान शक्ति) अधिक होती है। जबकि अज्ञानी के बँधनेवाले सातावेदनीय की स्थिति अधिक होती है किन्तु अनुभाग अल्प होता है। देखो! त्रसपर्याय में जीव के रहने का उत्कृष्ट काल तो दो हजार सागर ही है और अज्ञानी ने पुण्य की पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति बाँधी है किन्तु उस स्थिति का वह भोग नहीं कर सकता। मिथ्यादृष्टिपने में शुभभाव का आराधन किया है, इस कारण उसे अशुभभाव आये बिना नहीं रहेगा और त्रस-पर्याय की स्थिति पूर्ण होने पर वह पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति का नाश करके निगोदावस्था को प्राप्त करेगा।

इस प्रकार भले ही मिथ्यादृष्टि को सातावेदनीय की पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति बँधती है, तथापि उसे वह भोग नहीं सकता; इसी कारण कहा गया है कि सातावेदनीय भी प्रतिपक्षसहित है। उसका शत्रु पापोदय, अज्ञानी को आये बिना रहेगा ही नहीं।

भगवान की स्तुति अर्थात् आत्मा की स्तुति और भगवान की भक्ति अर्थात् आत्मा की भक्ति। भूमिकानुसार विकल्प, वह व्यवहार भक्ति है। आत्मा ध्रुव चैतन्यप्रभु है, उसकी सेवा एवं आराधना करनेवाले धर्मी जीव को भी भूमिकानुसार शुभभाव होता है और उसके फल में अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है, तथापि उसे कोई प्रतिपक्ष नहीं है। तात्पर्य यह है कि वह धर्मी पुरुष निज स्वभाव में स्थिरता के बल से उतनी-सी स्थिति का भी अभाव करके शुद्धोपयोगरूपदशा को प्राप्त कर, केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

हे प्रभु! संसार का प्रत्येक पदार्थ अनित्य है, एकमात्र आप ही नित्य हैं। व्यवहार से यह भगवान की स्तुति है किन्तु वस्तुतः ‘वृषभ’ का अर्थ तो ऐसा है कि ‘वृष गच्छति इति परमपदः’ अर्थात् जो अपने परमपद को प्राप्त करे, वही ‘वृषभ’ कहलाता है। चौबीसों तीर्थङ्करों की नामावली के इस प्रकार के अर्थ आत्मा पर घटित होते हैं।

बाह्य में व्यवहार से भक्ति तो होती है। सन्त-मुनिवरों को भी सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति भक्तिरूप शुभभाव आता है।

समन्तभद्राचार्य एवं श्री कुन्दकुन्दाचार्य जैसे महासमर्थ मुनिवरों को भी जब शुभभाव आता था, तब वे भी त्रिलोकीनाथ भगवान की स्तुति करते थे। क्षायिक सम्यग्दृष्टि इन्द्र, शक्रेन्द्र एवं उसकी एक भवावतारी देवी शचि भी नन्दीश्वरद्वीप में जाकर जिनभक्ति करते हैं, पैरों में घुँघरू बाँधकर नृत्य करते हैं।

नन्दीश्वरद्वीप में भगवान की अकृत्रिम प्रतिमाएँ विराजमान हैं; अतः देवगण वहाँ अष्टाह्निका पर्व के अवसर पर वर्ष में तीन बार जाते हैं और बालक की तरह नृत्य करते हैं। यद्यपि उन्हें यह परिज्ञान है कि 'यह सब जड़ की क्रिया है और जो किञ्चित् शुभराग आता है, वह पुण्यबन्ध का कारण है तथा मेरे स्वभाव के स्वलक्ष्य से जितनी एकाग्रतारूप शुद्धदशा है, वह संवर-निर्जरा का कारण है; अतः वे स्वलक्ष्य का परित्याग किये बिना ही भगवान की बहुत भक्ति करते हैं।

यहाँ कहते हैं कि हे नाथ! सामान्यस्वरूप की अपेक्षा से आप नित्य हैं अर्थात् आप जन्म-मरण रहित हैं। आपको अभिव्यक्त विशुद्धता का कभी अभाव नहीं होता। आत्मस्वभाव का भान करने से आराधक जीवों को जो शुद्धता प्रगट हुई है, उसका भी अभाव नहीं होता। इतनी सामर्थ्य जगत के किसी पदार्थ में नहीं कि वह आराधना का नाश कर सके।

इस प्रकार इस लोक में सूर्य के लिए राहू, अग्नि के लिए पानी, समुद्र के लिए वायु और संसार के भोगों के लिए उनके वियोग को शत्रु कहा गया है किन्तु हे प्रभु! आपका कोई शत्रु नहीं है अर्थात् जो आत्मा आराधक हुआ है, उसकी आराधना में कोई शत्रु अथवा प्रतिपक्ष नहीं है।

हे भगवान! इस सम्पूर्ण जगत में एकमात्र आप ही विनाशरहित हैं; बाकी सम्पूर्ण जगत तो नाशवान है। ●



काव्य २७

अजानतस्त्वां नमतः फलं यत्,
तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति।
हरिन्मणिं काचधिया दधानः-
तं तस्य बुद्ध्या वहतो न रिक्तः ॥

बिन जाने भी तुम्हें नमन, करने से जो फल फलता है।
वह औरों को देव मान, नमने से भी नहीं मिलता है ॥
ज्यों मरकत को काँच मानकर, करगत करनेवाला नर।
समझ सुमणि को काँच गहे, उसके सम रहे, न खाली कर ॥

अन्वयार्थ — (त्वाम्) आपको (अजानतः) जाने बिना ही (नमतः) नमस्कार करनेवाले पुरुष को (यत् फलम्) जो फल होता है, (तत्) वह फल (अन्यं देवता इति जानतः) दूसरे को 'देवता है' — इस तरह जाननेवाले पुरुष को (न तु) नहीं होता। क्योंकि (हरिन्मणिम्) हरे मणि को (काचधिया) काँच की बुद्धि से (दधानः) धारण करनेवाला पुरुष, (तं तस्य बुद्ध्या वहतः) हरे मणि को हरे मणि की बुद्धि से धारण करनेवाले पुरुष की अपेक्षा (रिक्तः न) दरिद्र नहीं है।

भावार्थ — हे भगवन्! जो आपको नमस्कार करता है, पर

आपके स्वरूप को नहीं जानता; उसे भी जो पुण्यबन्ध होता है, वह किसी दूसरे को देवता माननेवाले पुरुष को नहीं होता। जिस तरह कोई अनजान मनुष्य हरितमणि को पहनकर, उसे काँच समझता है तो वह, दूसरे की निगाह में जो मणि को मणि समझकर पहन रहा है, उसकी अपेक्षा निर्धन नहीं कहलाता। वे दोनों एक जैसी सम्पत्ति के अधिकारी कहे जाते हैं; अतः श्रद्धा और विवेक के साथ प्राप्त हुआ अल्पज्ञान भी प्रशंसनीय है।

काव्य २७ पर प्रवचन

अब, कहते हैं कि हे भगवान! आपको बिना जाने भी जो जीव आपकी भक्ति करते हैं और उससे उन्हें जो फल प्राप्त होता है, वैसा फल अन्य रागी-द्वेषी जीवों को देव मानकर भक्ति करने से भी नहीं होता।

जिस जीव को आत्मा का अनुभव तो नहीं हुआ किन्तु लक्ष्य आत्मा का है अर्थात् जो जीव आत्मा की चर्चा, आत्मा की ही वार्ता प्रसन्नचित्त से सुनता भी है, उसे भी महान फल की प्राप्ति होती है।

श्रीमद् पद्मनन्दि आचार्य ने भी कहा है कि —

तत्प्रीति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।

निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

(- पद्मनन्दि पञ्चविंशति, एकत्वाशीति 23)

अर्थात् जो जीव इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात को प्रसन्नचित्त से सुनता भी है, वह जीव भव्य है और भविष्य में होनेवाली मुक्ति का भाजन है अर्थात् वह निश्चित ही भविष्य में मुक्ति को प्राप्त करता है।

अतः जिसे अभी आत्मा का अनुभव तो नहीं हुआ किन्तु शुद्धनय के पक्ष से विकल्प एवं पुण्य-पाप की रुचि का परित्याग कर, जो भगवान द्वारा प्रतिपादित आत्मा की परस्पर चर्चा-वार्ता करता है;

आत्मा की बात को प्रेमपूर्वक श्रवण करता है और सच्चे देव की भक्ति करता है, भले ही वह अल्पज्ञानवाला हो, तथापि उसे अपूर्व फल प्राप्त होता है; वैसा फल कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को सच्चा मानकर, उनकी भक्ति करनेवाले को भी कभी नहीं मिलता।

जैसे किसी के हाथ में नीलमणि है और वह उसके स्वरूप के ज्ञान से रहित है तथा किसी दूसरे के हाथ में नीलमणि है और वह उसे ही नीलमणि समझता है — इन दोनों में बहुत अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों के हाथ में तो सचमुच ही नीलमणि है। बात इतनी ही है कि पहलेवाले को पहिचान हो जाए। यद्यपि पहलेवाले ने अपनी नीलमणि की परख नहीं की है, तथापि जिसने नीलमणि की परख करके उसे अपने हाथ में लिया है, उसके पास जितनी सम्पत्ति है; उतनी ही सम्पत्ति नीलमणि की पहिचानरहित किन्तु हाथ में नीलमणिवाले के पास भी है; उससे कम नहीं।

इसी प्रकार हे भगवान! जिसे आप प्राप्त हुए हैं, जिसे आपके प्रति भक्ति है, आपके द्वारा प्रतिपादित आत्मा की बात को जो रुचिपूर्वक सुनता है; वह जीव सम्यक्त्व के सन्मुख हुआ है, वह अल्पकाल में आत्मानुभव करेगा ही; अतः वह जीव भी कम बुद्धिवाला नहीं है। गृहीत मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तो वह जीव भी बहुत आगे है। भले ही वर्तमान में उसे आत्मानुभव नहीं है, तथापि वह अनुभव की तैयारीवाला है; अतः वह जीव भी बहुत उत्कृष्ट है।

शास्त्र में ऐसा आता है कि जीव को शुद्धनय का पक्ष कभी नहीं आया। अभी तो व्यवहार से लाभ होगा, निमित्त से लाभ होगा, राग से धर्म होगा — इस प्रकार की मान्यतावालों को तो आत्मा का सच्चा लक्ष्य भी नहीं है। जिस जीव को शुद्धनय का पक्ष आया है, आत्मा की ही चर्चा, आत्मा का विचार एवं एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही प्रयत्न

निरन्तर प्रवर्तता है, उस जीव को बँधनेवाला पुण्य भी इतना उत्कृष्ट होता है कि जिसके फल में अनन्त काल में अप्राप्त, ऐसी अद्भुत पुण्य की सामग्री एवं साक्षात् वीतरागवाणी के श्रवण का सुअवसर प्राप्त होता है। राग की आराधना करनेवाले मिथ्यादृष्टियों को तो ऐसा उत्कृष्ट पुण्य भी नहीं बँधता।

देखो! जिसके हाथ में नीलमणि है और उसकी पूरी पहिचान ठीक से नहीं है, तथापि नीलमणि की पहिचानवाले से इसकी ऋद्धि किञ्चित्मात्र भी कम नहीं है। इसी प्रकार जिसको आत्मा का लक्ष्य हुआ है, शुद्धनय का पक्ष हुआ है और आत्मप्राप्ति के लिए ही जिसका प्रयत्न एवं तैयारी चल रही है, वह भले ही अभी अनुभव-सम्पन्न नहीं है, तथापि अनुभवी जैसा है; उससे कम नहीं।

जिस जीव को सच्च देव-गुरु की भक्तिपूर्वक, उनके द्वारा दर्शाए हुए आत्मा की रुचि जागृत हुई है, उस जीव को प्राप्त अल्पज्ञान भी प्रशंसनीय है; उसे हम कम नहीं कहते। प्रभु! सच्चे देव की आराधना में वह लगा है, उसका महान फल है। राग की आराधना में प्रवर्तनेवालों को तो कुछ भी सच्चा फल प्राप्त होनेवाला नहीं है। भले ही राग का पुजारी नौवें ग्रैवेयक तक चला जाए, तथापि उसकी कोई कीमत नहीं है। इस प्रकार दोनों के फल में महान् अन्तर है।

इस प्रकार धनञ्जय कवि प्रत्येक काव्य में भिन्न-भिन्न दृष्टान्तपूर्वक अपनी बात को सिद्ध करते हुए स्तुति कर रहे हैं। ●



काव्य २८

प्रशस्तवाचश्चतुराः कषायैः-

दग्धस्य देवव्यवहारमाहुः।

गतस्य दीपस्य हि नन्दितत्वम्-

दृष्टं कपालस्य च मङ्गलत्वम्॥

विशद मनोज्ञ बोलनेवाले, पण्डित जो कहलाते हैं।
क्रोधादिक से जले हुए को, वे यों 'देव' बताते हैं॥
जैसे 'बुझे हुए' दीपक को, 'बढ़ा हुआ' सब कहते हैं।
और कपाल विघट जाने को, मङ्गल हुआ समझते हैं॥

अन्वयार्थ — (प्रशस्तवाचः) सुन्दर बोली बोलनेवाले (चतुराः) चतुर मनुष्य, (कषायैः दग्धस्य) कषायों से जले हुए पुरुष के प्रति भी (देवव्यवहारम् आहुः) देव शब्द का व्यवहार करना कहते हैं। सो ठीक ही है (हि) क्योंकि (गतस्य दीपस्य) बुझे हुए दीपक का (नन्दितत्वं) 'बढ़ना' (च) और (कपालस्य) फूटे हुए घड़े का (मङ्गलत्वम्) 'मङ्गलपन' (दृष्टम्) देखा गया है।

भावार्थ — हे भगवन्! लौकिक मनुष्य रागी-द्वेषी जीवों को भी 'देव' शब्द से व्यवहार करते हैं, सो सिर्फ लोक व्यवहार से ही किसी बात की सत्यता नहीं होती क्योंकि लोक में कितनी ही बातों का उल्टा व्यवहार होता है।

जैसे कि जब दीपक बुझ जाता है, तब लोग कहते हैं, दीपक 'बढ़ गया' और जब घड़ा फूट जाता है, तब लोग कहने लगते हैं कि घड़े का 'कल्याण' हो गया।

काव्य २८ पर प्रवचन

अब, कहते हैं कि वे वक्ता अज्ञानी हैं, जो वाक्चातुर्य अर्थात् वचन की चतुराई से आत्मा को तोड़ डालनेवाले हैं अर्थात् राग और पुण्य की क्रिया से आत्मा को लाभ मनवाते हैं और सकषायी जीवों को स्वयं देव मानते हैं तथा दूसरों से मनवाते हैं।

व्यवहार के बिना निश्चय नहीं होता, निमित्त के बिना उपादान का कार्य नहीं होता, शुभराग करते-करते धर्म होता है — इस प्रकार की समस्त बातों का निज वाक्चातुर्य द्वारा प्रतिपादन करके अज्ञानीजन दूसरों को दिग्भ्रमित करते हैं।

लौकिकजन तो होते ही ऐसे हैं। वे दीपक बुझ जाने पर कहते हैं कि 'दीपक बढ़ गया।' देखो! कैसी विपरीतता है? पुराने जमाने में ब्राह्मण लोग घर-घर जाकर आटा माँगते थे। यदि किसी के घर में आटा खत्म हो गया होता तो ऐसा न कहकर वे यूँ कहते थे कि 'आटा बढ़ गया।' देखो! यह विपरीतता! घर में घी समाप्त हो गया हो तो कहते हैं कि 'घी बहुत है, लेते आना', क्योंकि यदि 'घी नहीं है' — ऐसा कहे तो अपशकुन हो जाता है।

इसी प्रकार अज्ञानी जीव शुभराग की क्रिया करनेवालों को धर्मात्मा मानते हैं, जड़ की क्रिया से लाभ-हानि मानते हैं। अरे! यह सब लोगों की मिथ्या भ्रान्तियाँ हैं। लौकिक में घड़ा फूट जाए तो कल्याण मानते हैं। धर्म में भी इसी प्रकार की विपरीत मान्यताएँ अज्ञानियों में पायी जाती हैं।

कवि ने भगवान ऋषभदेव के मन्दिर में प्रतिमा के सन्मुख ही स्तुति प्रारम्भ की है; अतः भगवान के सन्मुख देखकर वे कहते हैं कि हे प्रभु! हे नाथ! लौकिकजन तो रागी-द्वेषी जीवों को भी 'देव' शब्द से सम्बोधित करते हैं — पहिचानते हैं किन्तु उन लोगों के कहने मात्र से ही उन रागी-द्वेषी जीवों को देव नहीं माना जा सकता क्योंकि लोग तो दीपक के बुझने को भी 'दीपक का बढ़ना' कहते हैं, घड़े के फूटने पर 'कल्याण हुआ' कहते हैं। अतः ऐसे अज्ञानी लोगों की मिथ्या बातों पर श्रद्धा नहीं की जा सकती।

शास्त्रों में कहीं निमित्त की मुख्यता से व्यवहारनय द्वारा उपचारित निरूपण किया गया हो तो वहाँ वाक्चातुर्ययुक्त अज्ञानी जीव, सम्यग्ज्ञानरहित जीवों को उस उपचरित कथन को ही सत्यार्थ स्वरूप बतलाते हैं।

द्रव्यलिङ्गी मुनि को शुक्ललेश्यारूप इतने उज्ज्वल शुभपरिणाम होते हैं कि इन्द्राणि डिगाने आए तो भी नहीं डिगे और शरीर के खण्ड-खण्ड करने पर भी क्रोध न करे, आँख की कोर तक लाल न हो; इतने मन्दराग में भी जो जीव धर्म मानते हैं, तो उनका यह मानना उसी प्रकार मिथ्या है, जिस प्रकार दीपक के बुझने पर उसे बढ़ा हुआ कहना।

यद्यपि राग में धर्म मानने से आत्मा का ज्ञानदीपक बुझ जाता है, तथापि अज्ञानीजन ऐसा मानते हैं कि 'हम धर्म में आगे बढ़ गये'। वस्तुतः यह उनका अज्ञान ही है। ●



काव्य २९

नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तम्,
हितं वचस्ते निशमय्य वक्तुः ।
निर्दोषतां के न विभावयन्ति,
ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण ॥

नयप्रमाणयुत अतिहितकारी, वचन आपके कहे हुए।
सुनकर श्रोताजन तत्त्वों के, परिशीलन में लगे हुए ॥
वक्ता का निर्दोषपना जानेंगे, क्यों नहीं हे गुणमाल।
ज्वर विमुक्त जाना जाता है, स्वर पर से सहजहि तत्काल ॥

अन्वयार्थ — (नानार्थम्) अनेक अर्थों के प्रतिपादक तथा (एकार्थम्) एक ही प्रयोजनयुक्त (त्वदुक्तम्) आपके कहे हुए (अदः हितं वचः) इन हितकारी वचनों को (निशम्य) सुनकर (के) कौन मनुष्य (ते वक्तुः) आपके जैसे वक्ता की (निर्दोषताम्) निर्दोषता को (न विभावयन्ति) नहीं अनुभव करते ? अर्थात् सभी करते हैं। जैसे (यः) जो (ज्वरेण मुक्तः) ज्वर से मुक्त हो जाता है, (सः) वह (स्वरेण सुगमः) स्वर से सुगम हो जाता है अर्थात् स्वर से उसकी अच्छी तरह पहिचान हो जाती है।

भावार्थ — आपके वचन नानार्थ होकर भी एकार्थ हैं। यह

प्रारम्भ में विरोध मालूम होता है, पर अन्त में उसका इस प्रकार परिहार हो जाता है कि आपके वचन स्याद्वाद सिद्धान्त से अनेक अर्थों का प्रतिपादन करनेवाले हैं, फिर भी एक ही प्रयोजन को सिद्ध करते हैं अर्थात् पूर्वापरविरोध से रहित हैं।

हे भगवन्! आपके हितकारी वचनों को सुनकर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि आप निर्दोष हैं क्योंकि सदोष पुरुष वैसे वचन नहीं बोल सकता। जैसे कि किसी की अच्छी आवाज सुनकर साफ मालूम हो जाता है कि यह ज्वर से मुक्त है क्योंकि ज्वर से पीड़ित मनुष्य का स्वर अच्छा नहीं होता।

काव्य २९ पर प्रवचन

हे नाथ! हे सर्वज्ञप्रभु! आप अनेक नयों के द्वारा अनेक प्रकार के कथन करते हैं, उसमें आपका प्रयोजन 'वस्तु को सम्यक् प्रकार से सिद्ध करना ही है।'

यद्यपि प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग में विविध अपेक्षाओं से कथन किया जाता है, तथापि प्रयोजन तो सबमें एकमात्र वीतरागता का ही है। राग और पर से उपेक्षा कराकर स्वभाव की सन्मुखता कराना ही त्रिलोकीनाथ की वाणी द्वारा प्रतिपादित चारों अनुयोगों का एकमात्र प्रयोजन है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में शङ्का उठायी गयी है कि आप अनेक प्रकार के कथन करते हो, उसमें तो कोई आपत्ति नहीं है और अन्यमती अनेक प्रकार के कथन करते हैं, उसका आप खण्डन करते हैं — ऐसा क्यों ?

उक्त शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हुए वहाँ कहा गया है कि 'भगवान के विविध कथनों का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता ही है,' जबकि अन्यमती तो परस्पर विरुद्ध कथन करके रागभाव का ही

पोषण करते हैं। उदाहरणार्थ — पुत्रहीन ब्राह्मण से कहते हैं कि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' और अन्यत्र ऐसा कहते हैं कि अमुक ब्रह्मचर्य का पालन करके तिर गये। इस प्रकार एक ओर जहाँ पाप करना प्रतिपादित करते हैं तो दूसरी ओर पुण्य को आदरणीय प्रतिपादित कर उससे लाभ अर्थात् मोक्ष होना बतलाते हैं। इस प्रकार अन्यमत के कथन परस्पर विरुद्ध एवं राग-द्वेष के पोषक होने से उनका मत असत्य ही है।

'है' — इसका स्वीकार करना, इसी का नाम उपादेय है। 'सर्वज्ञ है' — ऐसा स्वीकार करना ही उनकी स्तुति है। 'जैसा है, वैसा जानना' सो उपादेय है किन्तु वाक्चातुर्ययुक्त जीव समझे बिना ही विपरीत बतलाते हैं। प्रभु! आपके मत में वीतरागतरूप प्रयोजन में किञ्चित् भी फर्क नहीं आता; अतः आपके निर्दोष वचनों को सुनकर कौन मनुष्य आपकी निर्दोषता की पहिचान नहीं करेगा ?

यद्यपि आपकी वाणी में अनेक प्रकार के कथन प्रतिपादित होते हैं, तथापि सर्वत्र प्रयोजन एकमात्र वीतरागस्वभाव की दृष्टि, वीतरागी ज्ञान एवं वीतरागी चारित्र का ही प्रगट होने से आपका निर्दोष वक्तापना स्पष्ट ज्ञात होता है। न्याययुक्त वाणी को तत्त्वज्ञान के परीक्षक पुरुष परख ही लेते हैं।

जैसे १०४-१०५ डिग्री बुखारवाले की आवाज परिवर्तित हो जाती है और यह स्पष्ट ख्याल में आ जाता है कि उसे बुखार है और बुखार मिटने पर आवाज से ही स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि बुखार मिट गया। इसी प्रकार अज्ञानी के रोगयुक्त अर्थात् दोषयुक्त ज्ञान के स्वर को और आपके निर्दोष ज्ञान के स्वर को कौन नहीं पहिचानेगा ? आपकी वाणी एवं अज्ञानी की वाणी में पूर्व-पश्चिम-सा अन्तर है।

इसी बात को उदाहरण द्वारा 'सत्तास्वरूप' लिखनेवाले पण्डित

भागचन्दजी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है — जैसे कोई पुरुष अपने कमरे के किवाड़ बन्द करके सङ्गीत बजा रहा हो और उसी समय बाहर से सङ्गीत का ज्ञाता पुरुष निकले तो वह सङ्गीतवादक को देखे बिना ही पहिचान लेता है कि यह कोई विचक्षण सङ्गीत का ज्ञाता, वीणा बजा रहा है। हे नाथ! इसी प्रकार आपकी वाणी में आनेवाली पूर्वापर अविरोधता के कारण आपको देखे बिना ही समकिति धर्मी पुरुष इस प्रकार निश्चित किए बिना नहीं रहता 'ये कलाबाज केवली हैं;' क्योंकि पूर्ण केवली की वाणी में सब कुछ पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण ही आता है।

प्रभु! आपके वचन अनेक अर्थों के प्रतिपादक होने से नित्य - अनित्य, शुद्ध-अशुद्ध इत्यादि अनेक प्रकार से वस्तु का कथन करते हैं। तब अनभ्यास के कारण प्रारम्भ में विरुद्धता भी प्रतीत होती है, तथापि अन्त में यह निर्णय हो जाता है कि 'आपके वचन स्याद्वाद चिह्न से अनेक अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, पर प्रयोजन एकमात्र वीतरागता का ही सिद्ध करते हैं।' इस कारण आपकी निर्दोषता स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती है; अतः कथन / आपका उपदेश सत्य है। इस प्रकार परीक्षा द्वारा सिद्ध होता है।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे भगवान! मैंने परीक्षा द्वारा भले प्रकार यह निर्णय कर लिया है कि आप सर्वज्ञ हैं। आपकी सर्वज्ञता तो इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि आपके उपदेश में एक सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में अर्थात् एक समय में एक सत् में होनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व का वर्णन आता है क्योंकि एक समय में एक सत् के उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्वरूप तीन अंश को सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जान सकती; अतः आपका उपदेश आपकी सर्वज्ञता का ही परिचायक है।

जैसे जिसका गला सर्दी से पकड़ गया हो तो उसकी वाणी अच्छी नहीं निकल सकती; उसी प्रकार राग को पकड़े हुए अज्ञानी की वाणी में निर्दोषता असम्भव है। ●

पूर्व-पश्चिम-सा अन्तर

यद्यपि आपकी वाणी में अनेक प्रकार के कथन प्रतिपादित होते हैं, तथापि सर्वत्र प्रयोजन एकमात्र वीतरागस्वभाव की दृष्टि, वीतरागी ज्ञान एवं वीतरागी चारित्र का ही प्रगट होने से आपका निर्दोष वक्तापना स्पष्ट ज्ञात होता है। न्याययुक्त वाणी को तज्ज्वज्ञान के परीक्षक पुरुष परख ही लेते हैं।

जैसे १०४-१०५ डिग्री बुखारवाले की आवाज परिवर्तित हो जाती है और यह स्पष्ट ज्वाल में आ जाता है कि उसे बुखार है और बुखार मिटने पर आवाज से ही स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि बुखार मिट गया। इसी प्रकार अज्ञानी के रोगयुक्त अर्थात् दोषयुक्त ज्ञान के स्वर को और आपके निर्दोष ज्ञान के स्वर को कौन नहीं पहिचानेगा? आपकी वाणी एवं अज्ञानी की वाणी में पूर्व-पश्चिम-सा अन्तर है।

काव्य ३०

न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक्ते,

काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोगः।

न पूर्याम्यम्बुधिमित्युदंशुः,

स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति॥

यद्यपि जग के किसी विषय में, अभिलाषा तब रही नहीं। तो भी विमल वाणी तब खिरती, यदा कदाचित् कहीं कहीं। ऐसा ही कुछ है नियोग यह, जैसे पूर्णचन्द्र जिनदेव। च्वार बढ़ाने को नहीं उगता, किन्तु उदित होता स्वयमेव॥

अन्वयार्थ — (ते) आपकी (क्वापि) किसी भी वस्तु में (वाञ्छा न) इच्छा नहीं है, (च) और (वाक्ववृते) वचन प्रवृत्त होते हैं। सचमुच में (क्वचित् काले) किसी काल में (तथा) वैसा (कः अपि नियोगः) कोई नियोग-नियम ही होता है। (हि) क्योंकि (शीतद्युतिः) चन्द्रमा, (अम्बुधिम् पूर्यामि) मैं समुद्र को पूर्ण कर दूँ (इति) इसलिए (उदंशुः न भवति) उदित नहीं होता, किन्तु (स्वयम् अभ्युदेति) स्वभाव से ही उदित होता है।

भावार्थ — जिस प्रकार चन्द्रमा यह इच्छा रखकर उदित नहीं होता कि मैं समुद्र को लहरों से भर दूँ, पर उसका वैसा स्वभाव ही है

कि चन्द्रमा का उदय होने पर समुद्र में लहरें उठने लगती हैं; इसी प्रकार आपको यह इच्छा नहीं है कि मैं कुछ बोलूँ, पर वैसा स्वभाव होने से स्वयं ही आपके वचन प्रगट होने लगते हैं।

काव्य ३० पर प्रवचन

प्रत्येक गाथा में कवि ने नये-नये दृष्टान्त देकर बात को स्पष्ट किया है। देखो न! सहज योग भी कैसा बन गया है। कवि की दृष्टि तो पवित्र थी ही, साथ ही पुण्य संगृहीत हुआ; इस कारण उनके पुत्र का विष उतर गया। विष तो अपने कारण उतरा किन्तु यहाँ तो सर्व मलिनता उतर गयी।

हे वीतराग, सर्वज्ञदेव, त्रिलोकनाथ, गुणसागर प्रभु! आपको किसी भी प्रकार की इच्छा उत्पन्न नहीं होती, तथापि बिना इच्छा के ही चौबीस घण्टे में चार बार दिव्यध्वनि खिरती है, साठ घड़ी में चौबीस घड़ी वाणी खिरती है; बिना इच्छा के ही आपका शरीर चलता है।

हे प्रभु! आपको इच्छा नहीं है, तथापि यह सब क्या है? बिना इच्छा के ही चौबीस घड़ी दिव्यध्वनि! बिना इच्छा के ही विहार! प्रभो! यह आपकी विरुद्धता अपरम्पार है; वास्तव में हे प्रभु! आपने विरुद्धता का जहर उतार दिया है।

हे प्रभु! ऐसा ही सहज योग बनता है। भव्यजीवों के भाग्य के कारण आपका विहार होता है और भव्य जीवों के भाग्योदय के कारण ही आपकी दिव्यध्वनि खिरती है। यद्यपि विहार-दिव्यध्वनि इत्यादिक सभी कार्य अपने उपादान कारण से ही सम्पन्न होते हैं, तथापि भक्तजन निमित्त की मुख्यता से कहते हैं कि प्रभो! हमारे भाग्योदय के कारण ही आपकी दिव्यध्वनि खिरती है, आपका विहार होता है।

पूर्णमासी का चन्द्रमा सोलह कलाओं से संयुक्त उदित होता है,

उसकी ऐसी अभिलाषा नहीं है कि मैं समुद्र के पानी में ज्वार लाऊँ, फिर भी चन्द्र उदित होता है और समुद्र में सहज ही ज्वार आता है; ढोलक के इच्छा का अभाव होने पर भी उस पर हाथ मारने से आवाज निकलती है। इसी प्रकार आपके इच्छा का सर्वथा अभाव होने पर भी भाग्यवन्त जीवों के आने पर, आपकी वाणी निकलती है। ऐसे ही आत्मा के अन्दर में पुरुषार्थ की उग्रता हो तो शक्ति की अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रह सकती। द्रव्यस्वभाव में जितनी एकाग्रता होती है, द्रव्य में कुछ भी परिवर्तन हुए बिना उतनी शक्ति की अभिव्यक्ति पर्याय में होती ही है। प्रभो! आपने कोई अलौकिक बात की है। ●

वह महामूर्ख है

आपकी निर्मल परिणति, द्रव्य में से प्रगट हुई है – इस कारण द्रव्य ही आपका कुल है। शारीरिक सज्जन्धों से आपकी पहिचान करनेवाले आपकी पहिचान की विधि से अनभिज्ञ हैं।

यदि कोई हस्तगत सुवर्ण को यह कहकर फेंक दे कि यह तो पत्थर की खान में से उत्पन्न हुआ है तो वह महामूर्ख है। उसी प्रकार जो शरीर के कुल से आपकी पहिचान कराये किन्तु निर्मलानन्द चैतन्यधातु में से आपकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उस कुल को नहीं पहिचाने तो वह भी महामूर्ख है, अज्ञानी है। अचिन्त्य प्रभु अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध ही सर्वज्ञ का 'कुल' है; अतः जो भगवान के शरीर की ही स्तुति करते हैं और शरीर से ही भगवान की पहिचान कराते हैं, वे बड़ी भ्रान्ति में हैं ज्योंकि आपकी स्तुति तो आपके गुणों से है।

काव्य ३१

गुणा गंभीराः परमाः प्रसन्नाः,
 बहुप्रकारा बहुवस्तवेति ।
 दृष्टोऽयमन्तस्तवने न तेषाम्,
 गुणो गुणानां किमतः परोऽस्ति ॥

हे प्रभु! तेरे गुण प्रसिद्ध हैं, परमोत्तम हैं, गहरे हैं।
 बहु प्रकार हैं, पाररहित हैं, निज स्वभाव में ठहरे हैं ॥
 स्तुति करते-करते यों देखा, छोर गुणों का आखिर में।
 उनमें जो नहीं कहा, रहा वह, और कौन गुण जाहिर में ॥

अन्वयार्थ — (तव) आपके (गुणाः) गुण (गंभीराः)
 गम्भीर, (परमाः) उत्कृष्ट, (प्रसन्नाः) उज्ज्वल, (बहुप्रकाराः)
 अनेक प्रकार के और (बहुवः) बहुत हैं, (इति अयम्) इस प्रकार
 (स्तवनेन) स्तुति के द्वारा ही (तेषां गुणानां) उन गुणों का (अन्तो
 दृष्टः) अन्त देखा गया है। (अतः परः गुणानां अन्तः किम् अस्ति)
 इसके सिवाय गुणों का क्या अन्त होता है? अर्थात् नहीं।

भावार्थ — स्तुति में आपके समस्त गुण कहने की सामर्थ्य
 नहीं है, इसलिए उनका अन्त हो जाता है — ऐसा कहते हैं क्योंकि
 अन्य प्रकार से उनका अन्त सम्भव नहीं है।

काव्य ३१ पर प्रवचन

देखो! कवि के हृदयोद्गार!

हे प्रभु! जिस प्रकार समुद्र अगाध एवं गम्भीर है, उसी प्रकार
 आपके गुण भी अगाध एवं गम्भीर हैं; आपके गुण उत्कृष्ट हैं, आपके
 गुणों का परिपूर्ण विकास हो गया है, आपके गुण उज्ज्वल हैं। आपकी
 पर्याय में अंशमात्र भी विकृति अवशेष नहीं है, आपके गुण अनेक
 प्रकार के एवं अनन्त हैं।

इस प्रकार आपकी स्तुति करके ही हम ऐसा कहते हैं कि हमने
 आपके गुणों का पार पा लिया है किन्तु प्रभु! आपके गुण तो अपरम्पार
 हैं। वाणी से कितना भी कहा जाए, तथापि आपके गुणों का वर्णन
 करने की सामर्थ्य वाणी में नहीं है।

आपके सभी गुण आपमें समाविष्ट हो गये हैं; अतः आपके गुणों
 का पार आ गया किन्तु वाणी एवं विकल्प द्वारा आपके गुणों की गणना
 करने पर पार आवे — ऐसा नहीं है।

‘जहाँ आत्मा है, वहीं अनन्त गुण हैं’ — इस प्रकार श्रद्धा-ज्ञान
 में स्वीकार करने से साधक जीवों ने आत्मा के अनन्त गुणों का पार पा
 लिया है, जान लिया है किन्तु विकल्प द्वारा आत्मा के गुणों का पार
 नहीं आ सकता।

एक पल्य के असंख्यातवें भाग में असंख्य अरबों वर्ष होते हैं;
 ऐसे-ऐसे दश कोड़ा-कोड़ी पल्यों का एक सागरोपम होता है; ऐसे
 तेतीस सागरोपम तक क्षायिक सम्यग्दृष्टि, द्वादशाङ्ग के ज्ञानी देव वहाँ
 स्वर्ग में परस्पर तत्त्वचर्चा करते हैं तथापि आपके गुणों का अन्त नहीं
 प्राप्त कर सकते। हे प्रभु! गुणों का अन्त तो आपने ही प्राप्त किया है
 अर्थात् आत्मा में जितने गुण हैं, उन सबको आपने प्रत्यक्ष जान लिया

है; वाणी द्वारा उन सबका कथन होना तो सर्वथा असम्भव ही है।

इस प्रकार विकल्प एवं वचनात्मक स्तुति का परित्याग करके निर्विकल्प स्तुति में निमग्न हो जाने को ही भगवान की स्तुति कहा जाता है। ●

लक्ष्मण का अन्तिम संस्कार

श्रीरामचन्द्रजी तो महाविवेकी ज्ञानी थे। वे भी राग के वशीभूत होकर लक्ष्मण की मृतक देह को कब्धे पर लेकर छह माह तक घूमते रहे - ऐसी दशा में उनके मित्र देव ने उन्हें समझाने के उद्देश्य से रेत में से तैल निकालने के लिए रेत पेलने का दृश्य उपस्थित किया।

यह देखकर रामचन्द्रजी कहने लगे कि 'अरे मूढ़! यह तू ज़्यादा कर रहा है?' तब देव ने उनसे कहा कि 'आप ज़्यादा कर रहे हैं? ज़्यादा मरे हुए भी फिर से जीवित होते हैं?'

तत्पश्चात् देव ने अग्नि में कमल उगाने का दृश्य प्रस्तुत किया, जिसे देखकर रामचन्द्रजी कहने लगे कि 'अरे मूर्ख! अग्नि में कमल की उत्पत्ति कदापि संभव नहीं है। यह तू ज़्यादा कर रहा है?'

इस प्रकार देव द्वारा अनेक प्रकार से समझाये जाने पर रामचन्द्रजी के ज़्यादा में आया कि 'अरे! मैं रागवश भूल कर रहा हूँ - ऐसा विचार करके उन्होंने लक्ष्मण का अन्तिम संस्कार किया।

काव्य ३२

स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या
स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि।
स्मरामि देवं! प्रणमामि नित्यम्,
केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम्॥

किन्तु न केवल स्तुति करने से, मिलता है निज अभिमत फल। इससे प्रभु को भक्तिभाव से, भजता हूँ प्रतिदिन, प्रतिपल॥ स्मृति करके सुमिरन करता हूँ, पुनि विनम्र हो नमता हूँ। किसी यत्न से भी अभीष्ट-साधन की इच्छा रखता हूँ॥

अन्वयार्थ — (स्तुत्या हि) स्तुति के द्वारा ही (अभिमतम् न) इच्छित वस्तु की सिद्धि नहीं होती (परम्) किन्तु (भक्त्या स्मृत्या च प्रणत्या) भक्ति, स्मृति, और नमस्कृति से भी होती है; (ततः) इसलिए मैं (नित्यम्) हमेशा (देवम् भजामि, स्मरामि, प्रणमामि) आपकी भक्ति करता हूँ, आपका स्मरण करता हूँ, आपको प्रणाम करता हूँ (हि) क्योंकि (फलम्) इच्छित वस्तु की प्राप्तिरूप फल को (केन अपि उपायेन) किसी भी उपाय से (साध्यम्) सिद्ध कर लेना चाहिए।

भावार्थ — हे भगवन्! आपकी स्तुति से, भक्ति से, स्मृति

–ध्यान से और प्रणति से जीवों को इच्छित फलों की प्राप्ति होती है; इसलिए मैं प्रतिदिन आपकी स्तुति करता हूँ, भक्ति करता हूँ, ध्यान करता हूँ और नमस्कार करता हूँ क्योंकि मुझे जैसे बने, वैसे अपना कार्य सिद्ध करना है।

काव्य ३२ पर प्रवचन

यहाँ कविवर धनञ्जय, सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकीनाथ प्रभु भगवान ऋषभदेव की स्तुति कर रहे हैं, इसी के साथ ही निजात्मा की स्तुति भी गर्भितरूप से आ जाती है।

हे त्रिलोकीनाथ प्रभु! आप गणधरादि के स्वामी हैं; इसी प्रकार यह आत्मा भी अपनी निर्मल पर्याय का स्वामी है अर्थात् यह चिद्घन निर्मलानन्द आत्मा, अपनी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और लीनतारूप प्रजा का स्वयं स्वामी है।

प्रभु! आप त्रिलोकीनाथ की स्तुति कर लेनेमात्र से ही इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं हो जाती; स्तुति के साथ भक्ति, स्मृति और नमस्कृति होना भी आवश्यक है।

भक्ति अर्थात् अन्तर में भजन करना। **स्मृति** अर्थात् निज शुद्धात्म-स्वभाव एवं त्रिलोकीनाथ भगवान का स्वरूप अन्दर स्मृति में लाना, याद करना और **नमस्कृति** अर्थात् चैतन्य से विपरीत, विकार एवं संयोग का आदर न करके सच्चिदानन्द आनन्दकन्द ध्रुवस्वभाव का ध्यान करना, उसी में लीनता करना, उसी का आदर करना — यह नमस्कृति है। अन्यथा मात्र शरीर के नमने से न तो पुण्य होता है और न धर्म ही होता है।

निज शुद्धात्मा की विकल्पात्मक स्तुति से पर्याय में निर्मलता एवं शान्ति प्रकट नहीं होती किन्तु पूर्णानन्दसंयुक्त निजात्मा की भक्ति

अर्थात् स्वभाव में एकाग्रता, अन्तर स्मृति में चैतन्य को लाना व विकार का विस्मरण करके स्वभाव में स्थिरता करना ही वस्तुतः आत्मा एवं भगवान की सम्यक्भक्ति है। बाहर की शुभरागरूप भक्ति का विकल्प आये किन्तु उसके पीछे शुद्ध निर्मलानन्दस्वरूप की दृष्टि, ज्ञान एवं एकाग्रता करना ही निश्चयभक्ति है, स्मृति है और सच्चा नमस्कार है।

ज्ञानी को भी भूमिकानुसार भक्ति का व्यवहार आता है किन्तु परमार्थ श्रद्धा, ज्ञान, भक्ति के बिना तो वह मात्र पुण्यबन्ध का कारण है।

इसीलिए कहते हैं कि प्रभु! अखण्डानन्द के नाथ! मैं हमेशा आपकी भक्ति करता हूँ, आपका रटन करता हूँ, आपको ही स्मरण में रखता हूँ; अन्य कोई मेरे स्मरण में आता ही नहीं। हे नाथ! मैं तो एकमात्र आपको ही नमस्कार करता हूँ क्योंकि मेरा तो यही ध्येय है कि 'इच्छित वस्तु की प्राप्ति किसी भी प्रकार से कर लेना चाहिए।'

यदि भगवान की भक्ति करने से अन्तर में निज परमात्मा का भजन हो जाए तो उसके फल में आत्मा मुक्तिरूप इच्छित फल को प्राप्त कर सकता है; अतः किसी भी प्रकार निजपरमात्मा को ही भजना चाहिए; अन्यथा मात्र व्यवहारभक्तिरूप शुभभाव तो पापानुबन्धी पुण्य का कारण है।

हे भगवान! आपकी स्तुति से, भक्ति से, नमस्कार से, ध्यान से जीवों को इच्छित फल की प्राप्ति होती है; अतः मैं हमेशा आपकी भक्ति करता हूँ, ध्यान करता हूँ, नमस्कार करता हूँ क्योंकि मुझे किसी भी प्रकार से अन्तर कारणपरमात्मा में एकाग्र होकर श्रद्धा-ज्ञान एवं चारित्र प्रगट करना है, जिससे मोक्ष की अर्थात् मेरे द्वारा इच्छित फल की प्राप्ति होती है।

श्रद्धा, ज्ञान एवं स्थिरता के अतिरिक्त अन्य किसी भी मार्ग से मोक्षदशा की उपलब्धि नहीं हो सकती; अतः किसी भी प्रकार इस मार्ग पर चलकर मुझे मोक्षफल प्राप्त करना है। ●

सच्चा सुख

यद्यपि पर्यायदृष्टि से सब पदार्थों में परिवर्तन होता है, सिद्धों में भी होता है, तथापि द्रव्यदृष्टि से सब पदार्थ अपरिवर्तनरूप हैं। संसार में आने का कारण कर्मबन्ध है और वह कर्मबन्ध सिद्ध अवस्था में जड़मूल से नष्ट हो जाता है, इसलिए सिद्ध जीव फिर कभी लौटकर संसार में वापिस नहीं आते, यह आपका सिद्धान्त उचित ही है।

इसी तरह आपने वर्तमान में क्षणभङ्गुर इन्द्रियजनित सुखों से मोह छोड़ कर सच्चे आत्मसुख को प्राप्त करने का उपदेश दिया है। वह सच्चा सुख तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि यह प्राणी इन्द्रियजनित सुख में लगा रहता है। इसलिए प्रत्यक्ष के अल्पसुख को छोड़कर वीतरागता प्राप्त करने से यदि परभव में सच्चा सुख प्राप्त होता हो तो उसे कौन प्राप्त नहीं करना चाहेगा? — इस श्लोक में विरोधाभास अलङ्कार है।

काव्य ३३

ततस्त्रिलोकीनगराधिदेवं,

नित्यं परं ज्योतिरनन्तशक्तिम्।

अपुण्यपापं परपुण्यहेतुं,

नमाम्यहं वन्द्यमवन्दितारम्॥

इसीलिए शाश्वत तेजोमय, शक्ति अनन्तवन्त अभिराम।
पुण्य-पाप विन परमपुण्य के, कारण परमोत्तम गुणधाम ॥
वन्दनीय, पर जो न और की, करे वन्दना कभी मुनीश।
ऐसे त्रिभुवन-नगर-नाथ को, करता हूँ प्रणाम धर शीश ॥

अन्वयार्थ — (ततः) इसलिए (अहम्) मैं (त्रिलोकी-नगराधिदेवम्) तीन लोकरूप नगर के अधिपति, (नित्यम्) विनाशरहित, (परम्) श्रेष्ठ, (ज्योतिः) ज्ञानज्योतिस्वरूप, (अनन्त-शक्तिम्) अनन्त वीर्य से सहित, (अपुण्यपापम्) स्वयं पुण्य और पाप से रहित होकर भी (परपुण्यहेतुम्) दूसरे के पुण्य में कारण तथा (वन्द्यम्) वन्दना करने के योग्य होकर भी स्वयं (अविन्दितारम्) किसी को नहीं वन्दनेवाले (भवन्तम्) आपको (नमामि) नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ — हे भगवन्! आप तीनलोक के स्वामी हैं; आपका

कभी विनाश नहीं होता; आप सर्वोत्कृष्ट हैं; केवलज्ञानरूप ज्योति से प्रकाशमान हैं; आपमें अनन्त बल है; आप स्वयं पुण्य-पाप से रहित हैं, पर अपने भक्तजनों के पुण्यबन्ध में निमित्तकारण हैं; आप किसी को नमस्कार नहीं करते, पर सब लोग आपको नमस्कार करते हैं; आपकी इन विचित्रताओं से मुग्ध होकर, मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

काव्य ३३ पर प्रवचन

देखो! यह आत्मा और भगवान की स्तुति! दोनों प्रकार की स्तुति साथ-साथ चल रही है।

यहाँ कहते हैं कि हे परमात्मा! आप तीन लोकरूपी नगर के अधिपति हैं क्योंकि तीन लोक एवं तीन काल का ज्ञान आपको एक साथ प्रगट हुआ है। हे भगवान! जैसा आप देखते हैं, वैसा ही छहों द्रव्यों का परिणामन हो रहा है; अतः तीन लोक पर आपकी आज्ञा चलती है, इसलिए हे नाथ! मैं आपकी स्तुति करता हूँ। हे नाथ! आप तो विनाशरहित हैं।

प्रभु! अन्तरदृष्टि से तो प्रत्येक जीवद्रव्य का स्वभाव तीन लोक एवं तीन काल को जानने का होने से प्रत्येक आत्मा तीन लोकरूपी नगरी का स्वामी है — यह कथन द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से है।

और भी कहते हैं — प्रभु! आपको प्रगट हुई केवलज्ञानपर्याय का कभी नाश होनेवाला नहीं है। आपके अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्य का कभी नाश नहीं होता। इस प्रकार आत्मा के अनन्त चतुष्टय का नित्य ध्रुव चिदानन्द स्वभाव का चतुर्गति में परिभ्रमण करते हुए भी कहीं नाश नहीं होता और न नित्य शाश्वत स्वभाव में कहीं भी अनित्यता-अशाश्वतता ही प्रवेश करती है। हे भगवान! आप श्रेष्ठ अनन्त ज्ञानयुक्त हैं और मेरा आत्मा भी अनन्त ज्ञानस्वरूप है।

हे परमात्मा! आपको अनन्त वीर्य प्रगट हुआ एवं आप कृतकृत्य हो गये; अतः आपको कुछ भी करना शेष नहीं रहा। इसी प्रकार वस्तुस्वभाव की अपेक्षा से मेरा आत्मा भी कृतकृत्य ही है; पर्याय में पुण्य-पाप है किन्तु द्रव्यस्वभाव कृतकृत्य है।

प्रभु! आप तो पुण्य-पाप रहित हैं किन्तु जो भक्त आपकी भक्ति करता है, उसको पुण्यबन्ध में आप कारण हैं और जो निज परमात्मा की भक्ति एवं एकाग्रता करता है, उसको पवित्रदशा की अभिव्यक्ति में आत्मा कारण है।

द्रव्यस्वभाव, पुण्य-पाप का कारण नहीं होता। पर्याय में होनेवाले पुण्य-पाप के भाव, उस पर्याय के ही अपराध हैं। निरपराध आत्मा तो पवित्रता का ही कारण है क्योंकि उसके अन्तर में शक्तिरूप से पवित्रता पड़ी है; इसलिए वह पवित्रता का कारण है।

प्रभु! आप वन्दन करने योग्य हैं किन्तु आप किसी को वन्दन नहीं करते —

विनयवन्त भगवन्त कहावें, नहीं किसी को शीश नवावें।

परमात्मा पूर्ण विनम्र, अनन्त वीतरागतासंयुक्त एवं इच्छारहित हैं। तब वे किसे वन्दन करें? अन्य सम्प्रदाय में ऐसा आता है कि भगवान समवसरण में विराजते हैं, तब प्रथम चार तीर्थ वन्दन करते हैं किन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। जब भगवान को इच्छा का ही अभाव है, तब वे किसे वन्दन करेंगे?

जैसे भगवान किसी को वन्दन नहीं करते; वैसे ही निर्मल आत्म-स्वभाव भी किसी को वन्दन या किसी का आदर नहीं करता। निर्मल पर्याय तो स्वभाव का वन्दन या आदर करती है किन्तु निर्मल द्रव्यस्वभाव किसी को वन्दन नहीं करता। वह तो दृष्टि का विषय

परिपूर्ण तत्त्व है, वह किसी को नमस्कार नहीं करता, किसी का सत्कार नहीं करता।

भगवान् पुण्यबन्ध में कारण हैं किन्तु भगवान् के कारण संवर-निर्जरा नहीं होती। दिव्यध्वनि सुनने से पुण्यबन्ध होता है किन्तु उससे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाए — यह त्रिकाल में असम्भव है। सम्यग्दर्शन तो निजपरमात्मा की भक्ति से ही होता है; भगवान् की भक्ति से नहीं — यह मर्यादा है। निज चिदानन्द भगवान् की भक्ति करने से ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है — ऐसी बात है।

प्रभु! आप किसी को नमस्कार नहीं करते किन्तु आपको सब नमस्कार करते हैं। हे प्रभु! आपकी ऐसी विचित्रता देखकर मैं भी आपको नमस्कार करता हूँ अर्थात् आपका दास होता हूँ; इस प्रकार अपनी निर्मल पर्याय अपने द्रव्यस्वभाव की दास है, इस कारण पर्याय, द्रव्य को नमन करती है। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं, वे त्रिकाली द्रव्य की दास हैं परन्तु त्रिकाली द्रव्य किसी का दास नहीं है। ●

दीपक का बढ़ना

द्रव्यलिङ्गी मुनि को शुज्जलेश्यारूप इतने उज्ज्वल शुभ-परिणाम होते हैं कि इन्द्राणि डिगाने आए तो भी नहीं डिगे और शरीर के खण्ड-खण्ड करने पर भी क्रोध न करे, आँख की कोर तक लाल न हो; इतने मन्दराग में भी जो जीव धर्म मानते हैं, तो उनका यह मानना उसी प्रकार मिथ्या है, जिस प्रकार दीपक के बुझने पर उसे बढ़ा हुआ कहना।

काव्य ३४

अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धं,

त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम्।

सर्वस्य मातारममेयमन्यै-

जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि ॥

जो नहीं स्वयं शब्द रस सपरस, अथवा रूप गन्ध कुछ भी।
पर इन सब विषयों के ज्ञाता, जिन्हें केवली कहें सभी ॥
सब पदार्थ जो जानें पर न, जान सकता कोई जिनको।
स्मरण में न आ सकते हैं जो, करता हूँ सुमरन उनको ॥

अन्वयार्थ — (अशब्दम्) शब्दरहित, (अस्पर्शम्) स्पर्शरहित (अरूपमगन्धम्) रूप और गन्धरहित तथा (नीरसम्) रसरहित होकर भी (तद्विषयावबोधम्) उनके ज्ञान से सहित (सर्वस्य मातारम्) सबके जाननेवाले होकर भी (अन्यैः) दूसरों के द्वारा (अमेयम्) नहीं जानने के योग्य तथा (अस्मार्यम्) जिनका स्मरण नहीं किया जा सकता — ऐसे (जिनेन्द्रम् अनुस्मरामि) जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिक्षण स्मरण करता हूँ, ध्यान करता हूँ।

भावार्थ — हे भगवन्! आप रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित हैं, अमूर्तिक हैं; फिर भी रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द को

आप जानते हैं। हे प्रभु! आप सबको जानते हैं, पर आपको कोई नहीं जान पाता। यद्यपि आपका मन से भी कोई स्मरण नहीं कर सकता, तथापि मैं अपने बाल-साहस से आपका क्षण-क्षण में स्मरण करता हूँ।

काव्य ३४ पर प्रवचन

प्रभु! आप शब्दरहित हैं, आत्मा भी शब्दरहित है। जैसे प्रभु! आप शब्दरहित हैं, वैसे ही रूपरहित हैं, रसरहित हैं, गन्धरहित हैं; आपको इन सबका अभाव होने पर भी आप इन्हें जानते हैं।

भगवन्! आप तो सभी को जानते हैं किन्तु सब आपको नहीं जान सकते। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा तो सबको जानता है किन्तु रागादि विकार आत्मा को नहीं जान सकते; आत्मा तो निज निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा ही ज्ञात होता है।

यद्यपि साधकदशा में भूमिकानुसार रागादिक होते अवश्य हैं किन्तु वे आत्मा को नहीं जान सकते हैं; अतः उनके द्वारा जन्म-मरण का अभाव भी नहीं हो सकता।

हे भगवान! आप किसी के स्मरण में नहीं आते, इस प्रकार मैं आपका स्मरण करता हूँ। विकल्प अथवा राग से आप स्मरण में नहीं आ सकते किन्तु निर्विकल्प स्वसंवेदन द्वारा मैं आपको स्मरण में लेता हूँ अर्थात् अपने ज्ञान में बलपूर्वक रागादिरहित होकर मैं आपको स्मरण में लाता हूँ।

राग से निर्मलानन्द ज्ञानपुञ्ज स्मरण में नहीं आ सकता, देह की क्रिया से अथवा दया-दान-व्रत-भक्ति की क्रिया से भी भगवान आत्मा जानने में नहीं आ सकता।

तीन लोक व तीन काल में यह एक ही बात सत्य है, जिसे

रुचिकर लगे, वह माने; न रुचिकर लगे, वह न माने; सभी स्वतन्त्र हैं किन्तु बात तो इसी प्रकार है।

कवि भगवान से कहते हैं कि यह मेरा पहला बाल-साहस है कि जिसमें मैंने अपनी ज्ञानक्रिया से आपका परिज्ञान कर लिया है। ●

निज परमात्मा का भजन

यदि जगवान की भक्ति करने से अन्तर में निज परमात्मा का भजन हो जाए तो उसके फल में आत्मा मुक्तिरूप इच्छित फल को प्राप्त कर सकता है; अतः किसी भी प्रकार निज परमात्मा को ही भजना चाहिए; अन्यथा मात्र व्यवहारभक्तिरूप शुभभाव तो पापानुबन्धी पुण्य का कारण है।

हे भगवान! आपकी स्तुति से, भक्ति से, नमस्कार से, ध्यान से जीवों को इच्छित फल की प्राप्ति होती है; अतः मैं हमेशा आपकी भक्ति करता हूँ, ध्यान करता हूँ, नमस्कार करता हूँ ज्योंकि मुझे किसी भी प्रकार से अन्तर कारणपरमात्मा में एकाग्र होकर श्रद्धा-ज्ञान एवं चारित्र प्रगट करना है, जिससे मोक्ष की अर्थात् मेरे द्वारा इच्छित फल की प्राप्ति होती है।

श्रद्धा, ज्ञान एवं स्थिरता के अतिरिक्त अन्य किसी भी मार्ग से मोक्षदशा की उपलब्धि नहीं हो सकती; अतः किसी भी प्रकार इस मार्ग पर चलकर मुझे मोक्षफल प्राप्त करना है।

काव्य ३५

अगाधमन्यैर्मनसाप्यलंघ्यं,
निष्किंचनं प्रार्थितमर्थवद्भिः ।
विश्वस्य पारं तमदृष्टपारं,
पतिं जिनानां शरणं व्रजामि ॥

लंघ्य न औरों के मन से भी, और गूढ़ गहरे अतिशय ।
धनविहीन जो स्वयं किन्तु, जिनका करते धनवान विनय ॥
जो इस जग के पार गये पर, पाया जाय न जिनका पार ।
ऐसे जिनपति के चरणों की, लेता हूँ मैं शरण उदार ॥

अन्वयार्थ — (अगाधम्) गम्भीर, (अन्यैः) दूसरों के द्वारा (मनसा अपि अलंघ्यम्) मन से भी उल्लंघन करने के अयोग्य अर्थात् अचिन्त्य, (निष्किंचनम्) निर्धन होने पर भी (अर्थवद्भिः) धनाढ्यों के द्वारा (प्रार्थितम्) याचित, (विश्वस्य पारम्) सबके पारस्वरूप होने पर भी (अदृष्टपारम्) जिनका पार या अन्त कोई नहीं देख सका है — ऐसे (तम् जिनानाम् पतिम्) उन जिनेन्द्रदेव की (शरणम्) शरण को (व्रजामि) प्राप्त होता हूँ ।

भावार्थ — हे भगवन्! आप बहुत ही गम्भीर और धैर्यवान हैं । आपका कोई मन से भी चिन्तवन नहीं कर सकता । यद्यपि आपके

पास देने के लिए कुछ भी नहीं है तो भी धनिक लोग (अथवा याचकवर्ग) आपसे याचना करते हैं; आप सबके पार को जानते हैं, पर आपके पार को कोई नहीं जान सकता और आप जगत् के जीवों के प्रतिरक्षक हैं — ऐसा सोचकर मैं भी आपकी शरण में आया हूँ ।

काव्य ३५ पर प्रवचन

प्रभु! एक अन्तर्मुहूर्त में द्वादशाङ्ग की रचना करनेवाले एवं चार ज्ञान के धारक गणधरदेव के भी आप स्वामी हैं, सर्वोत्कृष्ट ईश्वर हैं । निश्चय से सहज आनन्दकन्द ध्रुवस्वभावरूप मुझ त्रिकाली आत्मा भी मेरी निर्मल पर्यायों का स्वामी है ।

प्रभु! आप गम्भीर हैं । मन के द्वारा भी ग्रहण (ज्ञात) नहीं हो सकते — ऐसे अचिन्त्य गम्भीर हैं ।

नाथ! आपके पास धन नहीं है, तथापि धनवान भी आपके पास आकर प्रार्थना करते हैं । देखो, भगवान की स्तुति करते हुए कवि के अन्तर से ये हृदयोद्गार सहज ही प्रस्फुटित हुए हैं ।

भगवान का समवसरण है किन्तु वह तो बाह्य वस्तु है । जगत की लक्ष्मी (जड़-धूल) भगवान के पास नहीं है, तथापि इन्द्र, नरेन्द्र, धनवान आपके पास आकर याचना करते हैं, प्रार्थना करते हैं, शरण माँगते हैं ।

इसी प्रकार यद्यपि आत्मा के पास पुण्य-पाप, राग, विकल्पादि जगत के भाव नहीं हैं, तथापि निर्मल पर्याय आत्मा की शरण ग्रहण करने आती है ।

व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि अरिहन्त मङ्गल हैं, शरण हैं, उत्तम हैं किन्तु वस्तुतः राग-द्वेषरूपी अरि या शत्रुओं का विजेता निजात्मा ही शरण है, मङ्गल है, उत्तम है ।

प्रभु! आप तो सबको सम्पूर्ण जगत् को जानते हैं किन्तु आपके सम्पूर्णरूप को कोई नहीं जान सकता ।

हे भगवान! आप अत्यधिक गम्भीर हैं; धैर्यवान-अगाध गुण से गम्भीर हैं। मन के द्वारा कोई भी आपका चिन्तन नहीं कर सकता। आपके पास धन-वैभव आदि कुछ भी नहीं है, तथापि बड़े-बड़े धनवान आपके पास आशा लेकर आते हैं कि प्रभु! कुछ दो-कुछ बोलो।

हे प्रभु! कोई आपका पार नहीं पा सकता। निज द्रव्य का अपरिमित स्वभाव, पर्याय में किसी भी प्रकार से पूर्ण प्रगट नहीं हो सकता। तीन लोक के नाथ (भगवान) निमित्त अपेक्षा रक्षक हैं किन्तु वस्तुतः तो अपना पूर्ण द्रव्यस्वभाव ही अपनी निर्मल पर्याय का रक्षक है; अन्य कोई भी परद्रव्य सचमुच इसका रक्षक है ही नहीं। ●

वीतरागता का सन्देश

हे प्रभो ! आप तो सभी के लिए दर्पणवत् समान हैं। जिस प्रकार दर्पण के सन्मुख अपना चेहरा करनेवाले तो स्वयं ही दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर आनन्दित होते हैं और दर्पण की तरफ पीठ करनेवाले अपना प्रतिबिम्ब न देख पाने के कारण स्वयं ही दुःखित होते हैं; इसमें दर्पण का तो किञ्चित् भी दोष नहीं है, वह तो दोनों के लिए समानरूप से ही चेहरे को प्रतिबिम्बित करनेवाला है। इसी प्रकार आप जैसे त्रिलोकीनाथ की भक्ति करनेवाले जीव तो सहज सुखोपलब्धि करते हैं और आपसे विमुख रहनेवाले अज्ञानीजन स्वयं ही दुःखी होते हैं, इसमें आपका किञ्चित् भी दोष नहीं है, क्योंकि आप तो वीतरागी हैं, आप तो राग-द्वेषपूर्वक किसी को सुख-दुःख प्रदाता है ही नहीं।

काव्य ३६

त्रैलोक्यदीक्षागुरवे नमस्ते,
यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत्।
प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रिकल्पः,
पश्चात्त मेरुः कुलर्वतोऽभूत्॥

मेरु बड़ा-सा पत्थर पहले, फिर छोटा-सा शैलस्वरूप।
और अन्त में हुआ न कुलगिरि, किन्तु सदा से उन्नतरूप॥
इसी तरह जो वर्धमान है, किन्तु न क्रम से हुआ उदार।
सहजोन्नत उस त्रिभुवन गुरु को, नमस्कार है बारम्बार॥

अन्वयार्थ — (त्रैलोक्यदीक्षागुरवे ते नमः) त्रिभुवन के जीवों के दीक्षागुरुस्वरूप आपको नमस्कार हो, (यः) जो आप (वर्धमानः अपि) क्रम से उन्नति को प्राप्त होकर भी (निजोन्नतः) स्वयमेव उन्नत (अभूत्) थे। (मेरुः) मेरुपर्वत (प्राक्) पहले (गण्डशैलः) गोल पत्थरों का ढेर, (पुनः) फिर (अद्रिकल्पः) पहाड़ और (पश्चात्) फिर (कुलपर्वतः) कुलाचल (न अभूत्) नहीं हुआ था किन्तु स्वभाव से ही वैसा विशाल था।

भावार्थ — हे प्रभो! आप तीन लोक के जीवों के दीक्षागुरु हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो। इस श्लोक के द्वितीय पद में विरोधाभास

अलङ्कार है। वह इस तरह कि आप अभी वर्धमान हैं, अर्थात् क्रम से बढ़ रहे हैं; फिर भी निजोन्नत अर्थात् अपने आप पहले से ही उन्नत थे।

जो चीज बढ़ रही है, वह पहिले उससे छोटी ही होती है, न कि बड़ी, पर यहाँ विपरीत बात है। विरोध का परिहार इस प्रकार है कि आप वर्धमान होकर भी स्वयमेव उन्नत थे; न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुए थे क्योंकि मेरुपर्वत आज जितना उन्नत है, उतना उन्नत हमेशा से ही था, न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुआ है। यहाँ वर्धमानपद श्लिष्ट है।

काव्य ३६ पर प्रवचन

हे त्रिभुवन के जीवों के दीक्षागुरु! आपको हमारा नमस्कार हो। आप क्रम से उन्नति का प्राप्त हुए हैं, तथापि स्वयं उन्नत हैं क्योंकि केवलज्ञान क्रम से नहीं होता, एक सेकेण्ड के असंख्यातवे भाग में, एक समय में पूर्ण केवलज्ञान एक साथ प्रगट हो जाता है। पहले थोड़ा, फिर बढ़ते-बढ़ते पूर्ण हो — ऐसा नहीं है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए कवि ने मेरुपर्वत का दृष्टान्त दिया है कि मेरुपर्वत पहले तो गोल पत्थर का ढेला, पश्चात् कुलाचल; इस प्रकार बढ़ते हुए मेरुपर्वत बना हो — ऐसा नहीं है। मेरुपर्वत छोटे से बड़ा हो — ऐसा नहीं है; वह तो अनादि से जैसा है, वैसा ही है — नया नहीं बना।

इसी प्रकार आत्मद्रव्य में भी पहले तो कम शक्तिवाला द्रव्य था, फिर उसमें से बहुत शक्तिवाला द्रव्य बना — ऐसा नहीं है। द्रव्यस्वभाव तो अनादि से स्वभाव से ही जैसा है, वैसा ही है अर्थात् उन्नत ही है।

हे भगवान! इस प्रकार आप भी उन्नत हैं; अतः आपकी उन्नतता को हमारा नमस्कार हो। ●

काव्य ३७

स्वयंप्रकाशस्य दिवा निशा वा,

न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम्।

न लाघवं गौरवमेकरूपं,

वन्दे विभुं कालकलामतीतम्॥

स्वयं प्रकाशमान जिस प्रभु को, रात-दिवस नहि रोक सका।
लाघव-गौरव भी नहीं जिसको, बाधक होकर टोक सका॥
एकरूप जो रहे निरन्तर, काल-कला से सदा अतीत।
भक्ति-भार से झुककर उसकी, करूँ वन्दना परम पुनीत॥

अन्वयार्थ — (स्वयं प्रकाशस्य यस्य) स्वयं प्रकाशमान रहनेवाले जिसके (दिवा निशा वा) दिन और रात की तरह (न बाध्यता, न बाधकत्वम्) न बाध्यता है और न बाधकपना भी। इसी प्रकार जिनके (न लाघवं गौरवम्) न लाघव है, न गौरव भी; उन (एकरूपम्) एकरूप रहनेवाले और (कालकलाम् अतीतम्) काल-कला से रहित अर्थात् अन्तरहित (विभुम् वन्दे) परमेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।

भावार्थ — स्वयं प्रकाशमान पदार्थ के पास रात और दिन का व्यवहार नहीं होता। प्रकाश के अभाव को रात कहते हैं और रात के

अभाव को दिन कहते हैं। जो हमेशा प्रकाशमान रहता है, उसके पास अन्धकार न होने से रात का व्यवहार नहीं होता और जब रात का व्यवहार नहीं है, तब उसके अभाव में होनेवाले दिन का व्यवहार भी नहीं होता; उसी प्रकार आपमें भी बाध्यता और बाधक का व्यवहार नहीं है।

आप किसी को बाधा नहीं पहुँचाते, इसलिए आपमें बाधकत्व नहीं है और कोई आपको भी बाधा नहीं पहुँचा सकता, इसलिए आप बाध्य नहीं हैं। जिसमें बाध्य का व्यवहार नहीं, उसमें बाधक का भी व्यवहार नहीं होता और जिसमें बाधक का व्यवहार नहीं, उसमें बाध्य का व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष हैं। उसी प्रकार आपमें न लाघवत्व ही है और न गुरुत्व ही। आप इन दोनों सापेक्ष धर्मों से रहित हैं। आप अगुरुलघुरूप हैं। हे भगवन्! आप समय की मर्यादा से भी रहित हैं अर्थात् अनन्त काल तक ऐसे ही रहनेवाले हैं।

काव्य ३७ पर प्रवचन

प्रभु! आप तो स्वयं प्रकाशरूप हैं। आपके स्वयं प्रकाशपने में दिन-रात भी बाधक नहीं होते क्योंकि स्वभाव को कोई भी बाधा नहीं पहुँचा सकता। आपका स्वभाव ही स्वयं प्रकाशपना है। अगुरुलघु भी आपका स्वभाव है। जैसा अगुरुलघुस्वभाव, द्रव्य में पड़ा है; वैसा ही अगुरुलघुस्वभाव, आपने पर्याय में प्रगट कर लिया है।

मेरा आत्मा भी अगुरुलघुस्वभावी है। आत्मा न तो निगोद की पर्याय जितना लघु है और न सिद्ध की पर्याय जितना गुरु; वह तो त्रिकाल आनन्दकन्द ध्रुव द्रव्यस्वभाव जैसा है, वैसा ही है; उसमें लघु और गुरु — ऐसे दो रूप नहीं हैं।

आपको (भगवान को) एकरूप पर्याय प्रगट हो गयी, वह ऐसी

की ऐसी (वह की वह नहीं) अनन्त काल रहेगी। जो अनन्त चतुष्टयदशा प्रगट हुई है, अब कितना ही समय क्यों न व्यतीत हो जावे, तथापि उसमें कुछ भी फेरफार नहीं होगा क्योंकि उसे काल की मर्यादा लागू नहीं पड़ती; वह तो कालातीत काल-कला से अतीत है।

प्रभु! आपको जो अनन्त ज्ञान प्रगट हुआ है, उसमें भी अनन्त... अनन्त... अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी हेरफेर नहीं होगा; आपका ज्ञान तो सदाकाल ऐसा का ऐसा ही रहेगा।

प्रभु! आप ज्ञाता-दृष्टा भगवान न तो किसी को विघ्नकारक हैं और न ही आपको कोई विघ्नकारक है। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा भी किसी को विघ्नकारक नहीं है और न इसे कोई विघ्नकारक है क्योंकि स्वभाव में विघ्न या बाधा का प्रवेश हो ही नहीं सकता।

भाई! यह तो निरञ्जन परमात्मा की भक्ति है। व्यवहार अपेक्षा भगवान की स्तुति है किन्तु इस व्यवहारस्तुति में निज निरञ्जन परमात्मा की स्तुति गर्भित हो जाती है। ●

देखो ! यह है भक्ति !!

प्रभु ! मुझे विश्वास है कि आप मेरे ऊपर दया-कृपा करेंगे ही। आपके केवलज्ञान में भी आ गया है कि मेरी पर्याय निर्मल होगी ही और मैं अपने आत्मा का आदर भी करता ही हूँ; अतः वह आत्मा कृपा करके मुझे निर्मल पर्याय प्रदान करेगा ही।

काव्य ३८

इति स्तुतिं देव! विधाय दैन्यात्-
 वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
 छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्
 कश्छायया याचितयात्मलाभः ॥

इस प्रकार गुण-कीर्तन करके, दीन भाव से हे भगवान ।
 वर न माँगता हूँ मैं कुछ भी, तुम्हें वीतरागी वर जान ॥
 वृक्षतले जो जाता है, उस पर छाया होती स्वयमेव ।
 छाँह याचना करने से फिर, लाभ कौनसा हे जिनदेव ॥

अन्वयार्थ — (देव) हे देव ! (इति स्तुतिम् विधाय) इस प्रकार स्तुति करके मैं (दैन्यात्) दीनभाव से (वरम् न याचे) वरदान नहीं माँगता क्योंकि (त्वम् उपेक्षकः असि) आप उपेक्षक हैं, राग-द्वेष से रहित हैं । अथवा (तरुम् संश्रयतः) वृक्ष का आश्रय करनेवाले पुरुष को (छाया स्वतः स्यात्) छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है; अतः (याचितया छायया कः आत्मलाभः) छाया की याचना से क्या लाभ है ?

भावार्थ — हे भगवन् ! मैं सर्प से डसे हुए मृतप्रायः लड़के को आपके सामने लाया हूँ, इसलिए स्तुति कर चुकने के बाद मैं आपसे

यह वरदान नहीं माँगता कि आप मेरे लड़के को स्वस्थ कर दें क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप राग-द्वेष से रहित हैं; इसलिए न किसी को कुछ देते हैं और न किसी से कुछ लेते या छीनते ही हैं । स्तुति करनेवाले को तो फल की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है । जैसे, जो मनुष्य, वृक्ष के नीचे पहुँचेगा, उसे छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है; छाया की याचना करने से कोई लाभ नहीं होता ।

काव्य ३८ पर प्रवचन

हे भगवान ! इस प्रकार आपकी स्तुति करके मैं आपसे किसी प्रकार के वरदान की याचना नहीं करता हूँ क्योंकि आप तो राग-द्वेष रहित वीतराग हैं; किन्तु जैसे वृक्ष के नीचे जाकर छाया के लिए वृक्ष से याचना नहीं करनी पड़ती, वहाँ जाने पर छाया तो सहज ही प्राप्त हो जाती है; उसी प्रकार हे भगवान ! आपके समीप आकर मुझे शान्ति की याचना नहीं करनी पड़ती क्योंकि यहाँ (आपके समीप) आने पर शान्ति एवं आनन्द तो सहज ही प्राप्त हो जाते हैं ।

जो आत्मा या पर्याय, द्रव्य के समीप जाकर एकाग्रता करता है; उसे अनन्त दर्शन, ज्ञानादिक की याचना नहीं करनी पड़ती, इच्छा नहीं करनी पड़ती; वरन् आत्मा में से सहज ही अनन्त-अनन्त शक्तियाँ पर्याय में अभिव्यक्त हो जाती हैं ।

अब, अन्त में स्तुतिकार कहते हैं — हे प्रभु ! मैं सर्प द्वारा काटे हुए बालक को आपके समीप लाया हूँ किन्तु आपकी स्तुति करके मैं आपसे किसी भी प्रकार के वरदान की अपेक्षा नहीं करता, याचना नहीं करता कि मेरे बालक का विष उतार दो इत्यादि । मैं तो आपकी और निजात्मा की ही स्तुति कर रहा हूँ । मैं जानता हूँ कि आप तो राग - द्वेष रहित वीतराग हैं; अतः न किसी से कुछ लेते हैं और न किसी को कुछ देते हैं ।

लोग याचना करते हैं न कि 'शिवपद हमको देना... देना रे महाराज, शिवपद हमको देना,' किन्तु भाई! जरा विचार तो कर!! क्या तेरा शिवपद भगवान के पास है, जो तू उनसे चाहता है? तेरा शिवपद तो तुझमें ही है, मोक्षशक्ति स्वभाव में ही है; बाहर से मोक्ष लाना पड़े — ऐसा नहीं है।

पर्याय को द्रव्यस्वभाव के सम्मुख कर दिया, वहाँ याचना नहीं करनी पड़ती, अपितु बिना याचना के ही पर्याय में निर्मलता सहज प्रगट हो जाती है; अतः कवि कहते हैं कि जिस प्रकार वृक्ष के नीचे जाने पर छाया सहज ही प्राप्त होती है; इसी प्रकार स्तुति करनेवाले को फल सहज ही प्राप्त होता है; याचना नहीं करनी पड़ती। ●

सज्यजत्व के सन्मुख जीव

हे भगवान! जिसे आप प्राप्त हुए हैं, जिसे आपके प्रति भक्ति है, आपके द्वारा प्रतिपादित आत्मा की बात को जो रुचिपूर्वक सुनता है; वह जीव सज्यजत्व के सन्मुख हुआ है, वह अल्पकाल में आत्मानुभव करेगा ही; अतः वह जीव भी कम बुद्धिवाला नहीं है। गृहीत मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तो वह जीव भी बहुत आगे है। भले ही वर्तमान में उसे आत्मानुभव नहीं है, तथापि वह अनुभव की तैयारीवाला है; अतः वह जीव भी बहुत उत्कृष्ट है।

काव्य ३९

अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधः-

त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम्।

करिष्यते देव! तथा कृपां मे,

को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ॥

यदि देने की इच्छा ही हो, या इसका कुछ आग्रह हो। तो निज चरण-कमल-रत निर्मल, बुद्धि दीजिये नाथ अहो ॥ अथवा कृपा करोगे ही प्रभु, शङ्का इसमें जरा नहीं। अपने प्रिय सेवक पर करते, कौन सुधीजन दया नहीं ॥

अन्वयार्थ — (अथ दित्सा अस्ति) यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है (यदि वा) अथवा वरदान माँगो, ऐसा (उपरोधः अस्ति) आग्रह है तो (त्वयि एवं सक्ताम्) आपमें लीन (भक्तिबुद्धिम्) भक्तिमयी बुद्धि (दिश) प्रदान करो। मेरा विश्वास है कि (देव) हे देव! आप (मे) मुझ पर (तथा) वैसी (कृपाम् करिष्यते) दया करेंगे। (आत्मपोष्ये) अपने द्वारा पोषण करने के योग्य शिष्य पर (को वारि सूरिः) कौन पण्डित पुरुष (सुमुखो न भवति) अनुकूल नहीं होता? अर्थात् सभी होते हैं।

भावार्थ — हे नाथ! यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है तो मैं आपसे यही चाहता हूँ कि मेरी भक्ति आप में ही रहे।

मेरा विश्वास है कि आप मुझे पर अपनी कृपा अवश्य करेंगे क्योंकि विद्वान् पुरुष अपने आश्रित रहनेवाले शिष्य की इच्छाओं को पूर्ण ही करते हैं।

काव्य ३९ पर प्रवचन

अब, कवि कहते हैं कि प्रभु! मुझे विश्वास है कि आप कृपा अवश्य करेंगे, कृपा किए बिना नहीं रहेंगे; अतः आपका आग्रह एवं अनुरोध हो तो मैं मात्र आपके चरणों की सेवा ही चाहता हूँ, अन्य कुछ भी मुझे नहीं चाहिए। हे प्रभु! मुझे ऐसा लगता है कि आपको आग्रह-अनुरोध है किन्तु वस्तुतः आपको तो कोई आग्रह है नहीं। लेकिन मुझे तो मात्र आपका और निजात्मा का निकटवर्तीपना ही चाहिए; आपकी एवं आत्मा की भक्ति करके उसी में लीन हो जाना है।

देखो, कवि यह क्या कहते हैं? प्रभु! मुझे विश्वास है कि आप मेरे ऊपर दया-कृपा करेंगे ही। आपके केवलज्ञान में भी आ गया है कि मेरी पर्याय निर्मल होगी ही और मैं अपने आत्मा का आदर भी करता ही हूँ; अतः वह आत्मा कृपा करके मुझे निर्मल पर्याय प्रदान करेगा ही। श्रीमद् ने भी अपूर्व अवसर में कहा है न —

यही परमपद प्राप्त कर सकूँ ध्यान में,
मनन, चिन्तवन, आत्ममनोरथरूप जब।
तो यह निश्चय 'राजचन्द्र' मन में रहो,
प्रभु आज्ञा से पाऊँ सहज स्वरूप जब॥

प्रभु! मैंने परमपद का ध्यान किया है; अतः मुझे अपना विश्वास है कि भले ही वर्तमान में परिपूर्णदशा प्रगट करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है, तथापि आपकी आज्ञा को धारण करके, मैं अवश्य ही परमपद की प्राप्ति करूँगा। जैसा आत्मा का स्वरूप है, वैसा पर्याय मैं पूर्ण प्रगट

करूँगा — ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास है; इसमें किञ्चित् भी सन्देह मुझे नहीं है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अन्तर में आत्मा की भक्ति करता है, तब अन्दर से ऐसी प्रेरणा, ऐसा सम्बल आता है कि मैं अवश्य ही अल्पकाल में पूर्णता को प्राप्त करूँगा। निज परमात्मा की प्राप्ति में विघ्नकारक कोई भी नहीं है; अतः मेरा क्या होगा? कहाँ जाऊँगा? इस प्रकार की दीनता उसे नहीं होती।

हे भाई! दृढ़ विश्वासपूर्वक प्रभु की एवं आत्मा की भक्ति कर, लीनता कर! तुझे अवश्य मुक्तदशा की प्राप्ति होगी। तू ही तेरा गुरु है और तू ही तेरा शिष्य है। तात्पर्य यह है कि निर्मल द्रव्य, गुरु है और निर्मल पर्याय शिष्य है। ऐसा कौन गुरु होगा, जो अपने शिष्य को पोषण प्रदान न करे? पोषण करे ही करे, इसमें शङ्का नहीं है।

देखो, यह है भक्ति! यथार्थभक्ति में ही ऐसी निशङ्कता हो सकती है। जैसे-तैसे भक्ति करे और विश्वास कुछ हो ही नहीं तो वह सच्ची भक्ति ही नहीं है। सच्ची भक्ति तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के ही होती है। पुण्य-पापादि विकाररहित शुद्ध द्रव्यस्वभाव की रुचि व दृष्टि हुई, वहाँ भगवान की आज्ञा हो गयी कि अब केवलज्ञान होगा ही, शीघ्र ही अर्थात् अल्पकाल में ही होगा; इस प्रकार तू निशङ्क हो जा। ●



काव्य ४० पर प्रवचन

हे जिनेन्द्र! किसी भी प्रकार से की हुई भक्ति, फल प्रदान करती है, तब आपके विषय में की हुई भक्ति अर्थात् सिद्धावस्था प्राप्त आपकी भक्ति के फल में मैं भी अवश्य सिद्ध होऊँगा। जहाँ सौ बोरी अनाज पैदा होता है, वहीं साथ में सौ गाड़ी घास भी होता है; इसी प्रकार अपनी पवित्रता के फल में मैं सिद्ध होऊँ, उसके पूर्व आपकी भक्ति के फलस्वरूप बँधे हुए पुण्य के फल से मैं तीर्थङ्कर, इन्द्रादि के वैभव को प्राप्त करूँगा।

निज अन्तर स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई पवित्रता भी पूर्णरूपेण फलेगी और आपके आश्रय से बँधा हुआ पुण्य भी पूर्णरूपेण फलेगा। प्रभु! आपकी भक्ति से क्या कमी हो सकती है? कुछ भी नहीं। आपकी भक्ति कीर्ति, धन, सम्पत्ति एवं विजय प्रदान कराती है। अन्तिम शब्द 'जीत' माङ्गलिक है; इसका आशय है कि हमारी जीत के नगाड़े बज गये हैं।

हे भगवान आपकी भक्ति, सुख, धन, सम्पत्ति, विजय एवं कीर्ति इत्यादि फलप्रदायक है और निश्चय भक्ति पूर्णपद की प्राप्तिरूप फलप्रदायक है।

पवित्रता के साथ बँधे हुए पुण्य के फल से मैं आपके समान ही समवसरणादि प्राप्त करूँगा — ऐसी मेरी दृढ़ प्रतीति है।

इस प्रकार कविवर धनञ्जय विरचित 'विषापहार स्तोत्र' पर आत्मज्ञ सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के जिनभक्तिरसगर्भित मङ्गल प्रवचन सम्पूर्ण हुए। ●

काव्य ४०

वितरति विहिता यथाकथञ्चिज्जिन,
विनताय मनीषितानी भक्तिः।
त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद्दिशति,
सुखानि यशो धनञ्जयं च॥

यथाशक्ति थोड़ी-सी भी, की हुई भक्ति श्री जिनवर की।
भक्तजनों को मन चाही, सामग्री देती जगभर की॥
इससे गुँथी गई स्तवन में, यह विशेषता से रुचिकर।
'प्रेमी' देगी सोख्य सुयश को, तथा धनञ्जय को शुचितर॥

अन्वयार्थ — (जिन) हे जिनेन्द्र! (यथाकथञ्चिज्जित्) जिस किसी तरह थोड़ी भी (विहिता) की गयी (भक्तिः) भक्ति (विनताय) नम्र मनुष्य के लिए (मनीषितानि) इच्छित वस्तुएँ (वितरित) देती है, (पुनः) फिर (त्वयि) आपके विषय में की गई (नुतिविषया) स्तुतिविषयक भक्ति (विशेषात्) विशेषरूप से (सुखानि) सुख, (यशः) कीर्ति, (धनम्) धन-सम्पत्ति (च) और (जयम्) जीत को (दिशति) देती है।

भावार्थ — हे भगवन्! आपकी भक्ति से सुख, यश, धन तथा विजय आदि की प्राप्ति होती है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन

ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

परम संरक्षक -

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश-प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द्र पाण्ड्या, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातृश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10) श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द्र जैन चन्द्रकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द्र बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दवाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द्र शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री अजितजी जैन, बड़ौदरा, गुजरात (21) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (22) श्री वीरेन्द्र कुमार, त्रिशला देवी, नईदिल्ली; (23) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (24) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (25) श्रीमती कोकिलाबेन शाह C/O श्री प्रवीण शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (26) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोर चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई। (27) श्री विवेक जैन, इन्दौर।

संरक्षक -

(1) अहिंसा चैरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द्र छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द्र छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसवाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द्र जैन, धेवरचन्द्र जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातृश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर (11) श्री महावीर जी पाटिल, सांगली, महाराष्ट्र (12) श्री विजेन्द्र कुमार जैन, जैन मैटल कम्पनी, कुमार मैटल कम्पनी, अलीगढ़।

परम सहायक -

(1) पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीवकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बाराँलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दवाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द्र अक्षयकुमार बत्सल,

खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द्र जैन, सूरत; (19) श्री शीतल गायक, बाँसवाड़ा (राज.); (20) श्री महीपाल गायक, बाँसवाड़ा (राज.); (21) श्री रूचाम्स फ्रेमिंग, टोरन्टो कनाडा।

सहायक

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्राफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द्र संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्राफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणादा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द्र जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घडियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द्र गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेंद्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग; (46) सुमतचन्द्र विनीतकुमार शास्त्री, आगरा; (47) श्री भगवान पारसकुमार जैन, आगरा; (48) स्व. श्री ज्ञानमलजी, भीलवाड़ा (राज०); (49) श्री विमलचन्द्र पुत्र श्री राजकुमार काला, खरगौन; (50) श्री पुचाम्स परिवार, टोरंटो, कनाडा; (51) श्रीमती सुलोचनादेवी जैन, गोहाटी; (52) श्री प्रभुदयाल जैन, सिलीगुड़ी (आसाम); (53) श्रीमती चंचला जैन, सोलापुर; (54) श्री अम्बुज जैन पुत्र श्री जे. डी. जैन, मलाड़, मुम्बई; (55) श्री अनुभव जैन, जयपुर; (56) श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परमागम ट्रस्ट, इन्दौर; (57) श्री रमेशचन्द्र सोगानी, कोलकाता; (58) श्री बटुकलाल राघवजी भापाणी, घाटकोपर, मुम्बई।